हमारे अन्य प्रकाशन

१ टैगोर के नाटक
२ कौन किसी का
३ डाक घर
४ खेलें कैसे ?
५ खत और खुशबू
६ विजय किस की ?
७ शैतान पुजारी
८ क्रान्तिकारी रमणी
९ आँचल और आँसू
१० उसकी कहानी
११ प्रेम पुजारिन
१२ आग
१३ आँसू
१४ बुर्दा फरोश
१५ फाँसी की कोठरी से
१६ पायल
१७ राजकुमारी की प्रेम कहानी
१८ समाज का अत्याचार
१९ पति पत्नी प्रेम
२० शाही लकड़हारा
२१ जीना सीखो
२२ गुनाह
२३ चट
२४ फूल और कलियाँ

भूमिका

आन्तरिक और वाह्य 'सघर्षों के बीच' से गुज़रने वाले एक परिवार का पूर्ण चित्र इस उपन्यास में खींचने का प्रयत्न किया गया है, जिसे बहुत ही निकट से देखने का लेखक को सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आन्तरिक सघर्ष के दो विभाग हैं, हृदय के अन्दर चलने वाला और पारिवारिक, उसी प्रकार वाह्य भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सामाजिक और आर्थिक। इन सघर्षों के थपेड़ों में से उस परिवार की नौका, जो अपनी अच्छी आर्थिक स्थिति के कारण शान्ति व स्थिरता का अभ्यस्त था, कैसे मार्ग अतिक्रमण करती है, यही इस उपन्यास का केनवैस है। परिवार पहिले—'बढ़त बढ़त सपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय। घटत घटत पुनि ना घटै, बरु समूल कुम्हलाय॥'—के अनुसार आचरण करता दिखलाई पडता है और ऐसा मालूम होता है जैसे वह समूल नष्ट ही हो जायगा, पर धीरे-धीरे उसका प्रत्येक व्यक्ति परिस्थितियों से लडना सीखता है और फिर उसमें जीवन का सचार हो जाता है।

वही चित्र पूर्ण-सफल, सच्चा, स्वाभाविक और सुन्दर कहा जायगा जिसमें जहाँ एक ओर सौदर्य को अभिव्यक्ति प्रदान की गई हो वहीं अपरूप पर पर्दा न डाला गया हो। इस परिवार के पूर्ण जीवन चित्र खींचने में एकाध ऐसे भी दृश्य आ गये है, जो शायद कुछ लोगों को आदर्शवाद के विरुद्ध मालूम हों, पर चित्र की पूर्णता के लिये उनका होना आवश्यक था। किसी भी तरकारी में जिस प्रकार मुख्य भाग तरकारी का होता है और मिर्च मसाले का गौण, पर सारा आनन्द उस मसाले का ही होता है। उसी प्रकार मिर्च, मसाले की इस उपन्यास में भी आवश्यकता पडी है और कल्पना ने वह कार्य किया है। कितना अश कल्पना का है और कितना सत्य का यह रहस्य है।

ऐसे कठिन समय में जब काग़ज़ मिलना दुश्वार हो रहा है, इस उपन्यास का प्रकाशन प्रिय अंचल जी, प० भगवतीप्रसाद जी वाजपेयी व तिवारी जी की कृपा से ही हो सका है। इसके लिये मैं अपने इन मित्रों का आभारी हूँ।

गंगाप्रसाद मिश्र

समर्पण

श्रद्धेय

निरालाजी को

गगाप्रसाद मिश्र

संघर्षों के बीच

यह तो निश्चित ही था कि इस पुस्तक का नवीन संस्करण शीघ्र होगा; किन्तु इतने अल्पकाल ही मे यह संस्करण पाठकों की सेवा मे भेट किया जायगा, इसका उस समय लेशमात्र भी ध्यान न था। वास्तव मे भाषा की रोचकता, एवं विषय का वर्णन लेखक ने ऐसे उपयुक्त ढंग से किया है जो वास्तविकता की कसौटी पर खरा उतरा है। अतः हमें प्रसन्नता है कि पाठको ने इसकी क़दर की।

—*प्रकाशक*

१

उस मकान में हमारा वह पहला ही दिन था। मकान के अन्दर की सफाई बडी भाभी ने कर ली थी, पर बाहर की बैठक चूंकि हम लोगों के पढने और बैठने के वास्ते तय हुई थी, उसकी सफ़ाई मुझे और मुझसे बड़े भाई को मिलकर करनी पड़ी थी। कुछ तो पानी भरने और झुक कर फ़र्श साफ करने की थकावट थी, कुछ नया मकान में जैसा अजीब-अजीब लगता है वैसा ही लग रहा था। मुझमें और मेरे भाई बब्बू में कमरे की सफाई में कौन काम कौन करे और कौन दूसरा, इस पर अथवा कमरे में कौन-सी अलमारी मैं लूं और कौन-सी वह—जो झगड़ा हो चुका था उसने हमारे नये कमरे के वातावरण को और भी मनहूस-सा कर रखा था। हम लोग अलग-अलग स्टूलों पर चुपचाप बैठे थे।

सामने के मकान में किसी ने आकर आवाज दी "त्रिलोकी! त्रिलोकी ए राजू!"

अन्दर से उत्तर मिला—"आए।"

सामने का दरवाजा खुला, और हमारी आँखों के सामने उस मकान की वह बैठक खुल पड़ी। लम्बाई, चौड़ाई में वह हमारे ही कमरे के बराबर थी पर हमारे कमरे और उस कमरे की कोई तुलना न हो सकती

थी। कितना सजा हुआ था वह कमरा, बडी-बडी तस्वीरें थीं और बाईं दीवार पर एक बहुत बडा शीशा लगा हुआ था। कमरे के दोनों तरफ दो मेजे और कुछ कुर्सियाँ लगी थीं। पहली ही दृष्टि पड़ने पर मुझे जो कुछ दिखलाई पड़ा बहुत ही सुन्दर और आकर्षक लगा।

जिसने दर्वाजा खोला था, मुझसे दो-तीन साल बड़ा यानी लगभग तेरह-चौदह वर्ष का लडका था, बिल्कुल गौर वर्ण और सुन्दर, उसे देखते ही मैने सोचा कि कुछ दिनों में इससे मेरी मित्रता हो जायगी। जिसने आवाज लगाई थी, हम लोगों के मकान की ओर इशारा करके कहा—"यह अजायब घर आज ही खुला है?"

मुझे अपने मध्यप्रान्त के छोटे से शहर से लखनऊ आए अभी दस ही पन्द्रह दिन गुजरे थे। हमारे उस छोटे शहर में अजायब घर नाम की कोई चीज न थी, और लखनऊ का अजायब घर न अभी हमने देखा था न उसके विषय में कुछ सुना ही था। इसलिये मैं उसके मज़ाक को न समझ सका।

इतने में दरवाजा खोलने वाले लडके ने जवाब दिया—"हाँ, जानवर तो अजीबोगरीब हैं।"

बात सुनकर मैं तिलमिला गया, पर कुछ कह न सका, क्योंकि वाकपटुता व्यग अथवा कटाक्ष नाम की चीज से अपने उस कस्बेनुमा शहर में हमारा परिचय न हो पाया था। वहाँ ऐसे मौके कम पडते थे। और अगर पडते ही थे तो फिर सीधी-सीधी गालियाँ ही दी जाया करती थीं। गाली देना इस नई जगह में पता नहीं कैसा सिद्ध हो, बात कहाँ तक बढ जाय, बड़े भैया को मालूम होने पर हम लोगों की क्या दशा हो। यह सोचकर खून का घूँट पीकर रह गया। हाँ मित्रता करने की जो बात सोची थी वह मन से दूर होने लगी।

वे दोनों अभी अपने किये हुये परिहास पर खूब खिलखिला कर हँस ही रहे थे, एक गली में खडा हुआ और दूसरा खुला हुआ दरवाजा

पकड़े। मेरा भाई बब्बू वैसा ही शान्त स्वभाव बैठा हुआ था, उसके हिसाब से जैसे कुछ हुआ ही न था, वह बहुत ही सीधा था, जब मैं अपने को इतना चालाक समझता था और पहली बात मैं ही न समझ पाया था तो यदि उसने दूसरी भी न समझी हो तो क्या आश्चर्य।

"ऊपर तो आओ प्रताप।"—त्रिलोकी ने कहा।

"राजू कहाँ है ?"—प्रताप सीढी पर पैर रखते हुये बोला।

"अभी आ रहे हैं।"

थोडी देर में अन्दर से राजू भी आ गये, अवस्था लगभग अट्ठारह साल की होगी, त्रिलोकी ही-सा गौर वर्ण, मुह पर चेचक के कुछ दाग़, चश्मा लगा हुआ, चेहरा काफी सुन्दर।

धीरे-धीरे वहाँ और भी लड़के इकट्ठे होने लगे, कमरा हँसी-मजाक की बातों में गूज उठा। इतने में कुल्फी वाला आया और वह बुलाया गया, फिर उन लोगों ने सबने दो-दो आने वाले कुल्फे जाने कितने खाए। जब हिसाब का वक्त आया तो मैंने देखा राजू ने उसे पाँच रुपये का नोट उसे इस तरह दिया जैसे हम लोग पैसा दो पैसा दिया करते थे और उन्हें शायद चार या छः आने पैसे वापिस मिले। वे लोग फुटबाल भर रहे थे, एक बड़ा-सा फुटबाल। थोड़ी देर में सुनाई दिया—"चलो भाई चलो, अब देर हो रही है।"

वे लोग सीढियों से उतरने लगे, आगे-आगे त्रिलोकी फुटबाल लिये हुये था। हमारे कमरे के सामने गली में आकर उसने अपने दोनों हाथों में फुटबाल लेकर ऊँचा उठाकर हमें दिखाया। फिर राजो आये उन्होंने अपना चश्मा आँखों पर से उतारा और त्रिलोकी ही की तरह बढाकर हमें दिखाया। मुझे मन ही मन गुस्सा आया कि यह लोग तग करने पर ही लगे हुए हैं। मैं जिस स्टूल पर बैठा हुआ था उसे ठीक उन लोगों के मुह की तरफ़ बढ़ाकर वैसे ही दिखला दिया।

वे सब हँसते हँसते चले गए, जवाब पा गए—मैंने भी ऐसा समझा। शाम हो रही थी, हम दोनों भाई पार्क चले, पर आज मुझे कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। मुझे बहुत ही गुमसुम देखकर बब्बू से न रहा गया क्योंकि हम लोगों के बीच में कोई बहुत बड़ी लड़ाई न हुई थी, उसने पूछा—"आज क्या हो गया है तुझे ?"

मैंने कहा—"कुछ नहीं, सोचता हूँ ये अपने घर के सामनेवाले लड़के कितने सुखी हैं और एक हम लोग हैं।"

"तू तो है पागल"—उसने कहा—"भगवान ने उन्हें अमीर बनाया है इसलिए वे लोग सुख से हैं, हम लोग गरीब हैं तो हम लोगों को तो तकलीफ झेलनी ही पड़ेगी।"

बात मुझे कुछ जँची नहीं, पर मैं चुप हो रहा।

अँधेरा हो जाने पर हम लोग जल्दी-जल्दी घर लौटे, डर लगा हुआ था कि कहीं देर हो जाने से भैया नाराज़ न हो जायँ। रोटी और एक तरकारी घर में बनी थी वह खाई और नीचे के कमरे में पढने के लिये आगए। परसों मुझे स्कूल मे भर्ती होने जाना था, इसलिये किंग प्राइमर को काफी पक्का कर लेना था। मुझे पढते हुए काफी देर हो चुकी थी तब त्रिलोकी वगैरह घर लौटे। आज मेरे दिमाग को न जाने क्या हो गया था, उन लोगो को देखता था तो फौरन अपनी दशा से तुलना करने लगता था। सोचा—यह लोग कितने स्वच्छन्द हैं—स्वयं तो खूब देर तक घूमते रहे हैं अब आए हुए हैं, तो हँसते हुए, न किसी का डर है न कुछ। एक हम लोग हैं, अँधेरा होने के बाद कभी घर के बाहर रह ही नहीं सकते, ज़रा देर हो जाती है तो ऐसे घबड़ाए हुए आते हैं, जैसे मौत का सामना करने जा रहे हों। मैं उस वक्त तक अबोध था, इस चीज़ के इसी रुख को ही देख पाता था, यह न दिखलाई पड़ता था कि यह स्वच्छन्दता इन लोगों को कितनी मँहगी पड़ रही है।

वे लोग कमरा खोलकर अपनी-अपनी कुर्सियों पर आ बैठे। उनकी बुआ भी आगई तख्त पर बैठ गई और वे लोग उनसे अपने मैच का वर्णन करने लगे। कैसे मैंने किक लगाई, कैसे मैं गेंद लेकर बढा, कैसे गोल किया। बुआ कुछ समझते हुए, कुछ न समझते हुए उन लोगों की हॉं में हॉं मिलाती रहीं। मुझे यह देखकर बडा ही आश्चर्य हुआ कि उन लोगों के घरवाले त्रिलोकी और राजो का हर बात में मुँह जोहते थे, उनकी प्रसन्नता का ध्यान रखते थे और हम लोगों को तो घरवालों की प्रसन्नता बनी रहे इसके लिए मन ही मन भगवान से प्रार्थना करनी पडती थी।

इतने में उनके बैठके के दरवाजे के पास से आवाज आई—"बेटा राजो, त्रिलोकी, पूरी तैयार है, परोसूँ?"

आवाज के मिश्रित स्नेह से मैंने अनुमान किया यह शायद इन लोगों की मॉं होगी।

राजो—"मुझे तो भूख है नहीं—भाभो, त्रिलोकी खाए तो खा ले।"

"नहीं मुझे भी भूख नहीं है।"—त्रिलोकी ने कहा।

"क्यों आज भूख क्या हो गई तुम लोगों की?"

"सुन्दर सिंह के यहाँ, आइसक्रीम खाई, फालूदा खाया और खस का शर्बत पिया—अब पेट में कहॉं से जगह आवे।" राजो ने कहा,

"अरे तो एक ही आध पूरी खालो बेटा—चुन्नीलाल को बज़ार भेजकर जो कुछ मँगवाना हो मँगवाओ।"

"अब भाभो इस बखत तो नहीं खाते बनेगा।"

"अरे तो क्या एकाध भी न खाते बनेगी, या मँगवा दूँ, रबड़ी या मलाई?"

"तुम तो पीछे ही पड गई, अच्छा मलाई मँगवा लो।"

नौकर चुन्नीलाल थोड़ी देर में बाजार से मलाई ले आया और तब उन दोनों भाइयों ने बड़ी मुश्किल से थोडा-थोडा खाया। कमरे में ही

थाली आगई थी, एक-एक कौर और खाने के लिए उनसे आग्रह किया जाता था।

मैं सोने के लिये गया तो वही विचार मेरे मन में चक्कर काट रहे थे—यह लोग कितने सुखी हैं। घर में इन दोनों लड़कों का कितना मान है। हम लोग अगर किसी वक्त खाना खाने के लिए एक बार मना कर दें तो दूसरी दफ़े कोई न पूछेगा, इतनी डॉट जरूर पड़ेगी कि खाना बनने के पहले ही क्यों न मना कर दिया था और दूसरे दिन वही बासी रोटियाँ खाने को मिलेंगी। कितना अन्तर था, महान् अन्तर हमारे और उनके जीवन में, मैं यही सोचता था और इस सबका कारण यही था कि वे धनी थे और हम गरीब, लेकिन भगवान तो समदृष्टि रखता है, उसके यहाँ से चलने के पहले हमने कौन से पाप कर लिए थे और इन्होंने पुण्य। जिसके फलस्वरूप उसने हमारे जीवनों में इतनी भिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं। यही सब सोचता-सोचता मैं सो गया।

दूसरे दिन सबेरे से ही उन लोगों की दिनचर्या को मेरी आँखें देखने लगी। कितने स्वतन्त्र और स्वच्छन्द थे वे लोग, पैसों की तो उनके पास कमी ही न थी, बिस्कुट वाला आया, बिस्कुट खाए गए, केक खाए गए, मिठाई वाला आया, मिठाई और नमकीन खाया गया और जाने क्या-क्या। कोई खाने की चीज वाला उनके घर कुछ बेचे बिना जाता न था। मुझे अब तक वह घटना याद है, वे लोग रोज तरह-तरह की चीजें खाते थे, उनमें केक ऐसी थी जिसका स्वाद मैंने कभी न चखा था और जिसे खाने की मेरी बड़ी इच्छा थी। एक बार शायद दशहरे पर ही जब घर से मुझे मेले के वास्ते चार पैसे मिले थे तो मेले में कुछ भी न खर्च करके मैंने दूसरे दिन इकन्नी उस खोंचेवाले को देकर, जो रोज़ त्रिलोकी के यहाँ आता था, कहा—"एक केक दे दो।" तब मेरी इकन्नी मुझे वापिस करते हुए उसने कहा था—"मेरे पास दो आने से कम वाली कोई केक नहीं है।"

मैं अपनी इकन्नी लेकर वापिस चलने लगा था तो त्रिलोकी शायद मेरी असामर्थ्य पर हँसने लगा था। यह बहुत दिन बाद की बात है जब मेरी उनसे मित्रता हो चुकी थी। फिर उसने कहा था—"आओ, हम तुम्हें केक खिलवा दें।"

मैंने कहा था—"नहीं, मैं नहीं खाऊँगा," और दरवाजा बन्द करके अन्दर चला गया था। उसके बहुत दिन बाद तक मैं इस बात की प्रतीक्षा में उस इकन्नी को रक्खे रहा था कि कहा से और पैसे मिलकर यह दो आने हो जाते तो मैं केक खाता, पर बहुत दिन तक ऐसा हो न पाया था, और इकन्नी खर्च हो गई थी। जीवन में शायद बहुत देर से मैं केक का स्वाद जान पाया था।

हाँ, तो उसी दिन की बात है मैं उन लोगों को इस प्रकार खाते-पीते देखता रहा। दोहपर होने को आ रही थी, त्रिलोकी अपने चबूतरे पर खड़ा था, मैं अपने कमरे के एक कोने में लगी हुई अल्मारी में किताबें ठीक कर रहा था, कि एक आमवाली निकली। त्रिलोकी ने शैतानी के कारण ही एक आम बड़ा-सा बडी सफाई से उसकी टोकरी में से उठा लिया। शैतानी मैंने इस कारण कहा कि उसे कोई कमी तो थी नहीं, वह जितने चाहता ऐसे आम खरीद सकता था। आमवाली आगे बढ गई।

मैंने अपने कमरे के दरवाजे पर पहुँच कर कल का बदला लेने के ख्याल से कहा—"आमचोर।"

त्रिलोकी ने मुझसे डाँट कर कहा—"चुप रह! तुझसे मतलब।"

मैंने कहा—"अकड़ोगे, तो अभी बुला के उससे कह दूँगा।"

त्रिलोकी को शायद अब अपनी परिस्थिति का ज्ञान हुआ। कुछ नरम पड़ गया, फिर आम मेरी तरफ बढ़ाता हुआ बोला—"खाओगे?"

मैंने कहा—"चोरी की चीज़ मैं नहीं खाता।"—अपनी जगह

पर बैठ कर पढने लगा । त्रिलोकी का मुँह देखकर समझ गया, कि काफी शर्मा गया है । उस दिन के बाद जितनी बार वह मुझे दिखलाई दिया, मैंने उसी विशेषण "आम चोर!" से उसका सम्बोधन किया ।

दोपहर को उनके यहाँ शतरञ्ज जमी । किसमें ? त्रिलोकी और राजो एक तरफ थे और उनके पिता बाबू ब्रजनाथ दूसरी तरफ । न हुई होगी शतरञ्ज तो चार घण्टे तो हुई होगी । कितना स्वतन्त्रता से वे लोग अपने पिता से बातचीत करते थे । शतरञ्ज की एक-एक चाल फेरने के पीछे जाने कितनी-कितनी देर तक बहस करते थे । मैं इतना बड़ा हो गया हूँ कभी याद ही नहीं आता कि हम लोग कभी अपने भैया के साथ कोई चीज खेले हों । सच तो यह है कि शतरञ्ज ताश इत्यादि कभी खेलते कभी मैंने उन्हें शायद देखा भी न था । बब्बू के ब्याह मे जब मैं काफी बड़ा हो गया था, रेल में बारात जाते वक्त भैया ने ताश खेले थे, उस समय कुछ लोगों ने मुझे भी खेलने को बहुत बार कहा था, परन्तु मैं साहस न कर सका था ।

उस दिन के बाद मेरा और त्रिलोकी का एक सम्बन्ध स्थापित हो गया, अर्थात् यह कि जब मैं उसे देखता—"आम चोर" से सम्बोधित अवश्य कर देता और वह मुझे मुँह चिढा देता या तिरछी आँखों से देखता हुआ चला जाता ।

एक रोज दोपहर की बात है—स्कूल में हम लोगों के नाम लिख चुके थे । बडे भैया ड्यूटी पर बाहर चले गए थे, भाभी अन्दर सो रही थी इसलिये मुझे और बब्बू को भी कोई काम न था । बब्बू ने अपने इस समय का सदुपयोग सोकर करना शुरू कर दिया था पर मेरी समझ में कोई तर्कीब न आती थी कि मैं क्या करूँ । उधर त्रिलोकी भी न जाने कैसे अकेला था, वह कई बार दरवाज़े पर आ आकर खड़ा हुआ और फिर अन्दर चला गया, आखिरी दफे आया तो बड़ी देर तक खड़ा मुझे देखता रहा और मैं उसे, फिर मुझसे बोला—"फुटबाल खेलोगे ?"

मैंने कहा—"खेलूँगा।"

वह कमरे में से फुटबाल निकाल लाया और हम लोग गली में ही खेलने लगे। मैंने उस वक्त तक फुटबाल खेलते देखा तो था, पर खेला नाममात्र को ही था। रतलाम में, जहाँ हमारे भैया रहते थे मैं अपनी माँ के मर जाने के पश्चात् कुछ दिन रहा था, वहाँ मैंने फुटबाल खेला था। लेकिन वह फुटबाल ऐसा था जिसमें न ब्लैडर था न हवा भरी जाती थी, इन चीज़ों की जगह फुटबाल के कवर (खोल) के अन्दर पुराने कपड़ों ने ले रखी थी।

फुटबाल खेलने में मैं सीधा उँगलियों से लगाने लगा, तब त्रिलोकी ने मुझे उँगलियाँ मोड़कर किक लगाना सिखाया। बड़ी देर तक भरी दोपहरी की धूप में हम लोगों का खेल चलता रहा और इतनी देर में हम लोग काफी दोस्त हो चुके थे। खेल तभी बन्द हुआ जब फुटबाल की पत्थर की गली में धम-धम आवाज ने हम लोगों के घरवालों को जगा दिया और धूप में खेलना नुकसानदेह बताकर खेल बन्द करवा दिया गया। त्रिलोकी उस दिन पहले-पहले हमारी बैठक में आकर बैठा और बड़ी देर तक हम लोग बातें करते हुए एक दूसरे के विषय में जानते रहे जब त्रिलोकी उठकर जाने लगा, मैंने मुस्कराते हुए उससे कहा—"अब तुम्हें आम चोर न कहूँगा।"

वह हँसता हुआ चला गया।

उस दिन के बाद मेरी और त्रिलोकी की घनिष्टता बढ़ती ही चली गई, मैं उसके यहाँ जाने लगा और वह मेरे। वह मेरे यहाँ खुले आम खाने-पीने लगा और मैं उसके यहाँ चोरी से; क्योंकि मैं कनौजिया ब्राह्मण था, मेरा जनेऊ हो चुका था, और भैया का डर था। त्रिलोकी के घर के लोगों का विशेषतः उनकी माँ का (जिन्हें वे लोग भाभो कहते थे) व्यवहार इतना स्नेहमय था कि मैं धीरे-धीरे बिल्कुल उस परिवार का सदस्य ही बन गया।

२

बाबू ब्रजनाथ उन व्यक्तियों में से थे जो जन्म से ही रईस पैदा होते हैं, अर्थात् उन्हें मन रईसों का मिलता है, वाह्य परिस्थितियों का उन पर प्रभाव नहीं पड़ता, उनके चाहे जितनी प्रतिकूल होने पर भी वे रईस ही रहते थे। बाबू ब्रजनाथ के पिता के विषय में मुझे अधिक ज्ञात नहीं, पर यह अवश्य जानता हूँ कि उनकी स्थिति कोई विशेष अच्छी भी न थी। फिर भी मैंने बाबू ब्रजनाथ को यह कहते हुए सुना था कि—"अपने घर की वैसी स्थिति में और उसके बाद जब मुझे कमसरियट मे नौकरी करनी पडी थी, जहाँ अगर कोई काम था तो आमदनी करने,—मैं अक्सर सोचा करता था कि जीवन में एक-न-एक दिन वह जरूर आएगा जब बिना हाथ पैर हिलाए बैठे-बैठे खाने को मिलेगा।"—और वह दिन बाबू ब्रजनाथ के जीवन में आ गए थे। आगरे में उनकी एक मौसी थी जिनके पास लगभग साठ-सत्तर हजार नगद रुपया था। बाबूजी ने उन्हें स्नेह-पाश में बाँधा, वे अक्सर आगरे जाने लगे और उन मौसी जी की प्राणपण से सेवा करने लगे। मौसी के कोई बच्चा न था, इसी कारण बाबू जी का यह स्नेह इतना जोर कर रहा था। उनके दो-एक भतीजे थे, जिनके व्यवहार से वे बहुत अधिक असन्तुष्ट थो। बाबू जी को आशा की किरण वहाँ दिखलाई दी थी, इसी कारण बिना मौसी जी को देखे बाबू जी का मन लखनऊ में न लगने लगा।

मौसी जी वृद्ध थीं, भतीजे उनके धन के ही हक़दार बनते थे, सीधे मुँह उनसे बात भी न करते थे, समझते थे, मिलना तो हमी को है, फिर क्यों खुशामद करें। इधर बाबू ब्रजनाथ के व्यवहार में मौसी जी को सच्चे स्नेह की सुगन्धि मालूम हुई, क्योंकि वे जब भी लखनऊ से जाते मौसी

जी के लिए बढिया-बढिया सौगातें लेकर जाते; महीने में एक बार रेल का किराया वे अवश्य आने-जाने का खर्च करते; फिर वहाँ भी जहाँ तक बनता अपनी उदारता से मौसी जी को प्रभावित करते। उनके लाख आग्रह करने पर भी चलते समय क्या किसी समय भी उनसे एक पैसा न लेते, कहते—"हमें तुझे खिलाना चाहिए कि हम तेरा पैसा खायें।"

बाबू जी की इस निष्काम सेवा से मौसी जी बिना प्रभावित हुए कैसे रह सकती थीं। बाबू जी जब भी जाते थे मौसीजी से कहते थे—"लखनऊ में चल तो देख मैं तेरी कितनी सेवा करता हूँ, तेरे यहाँ रहते हुए मैं क्या कर सकता हूँ।" आखिर को मौसी जी बाबू जी पर प्रसन्न हो ही गई और वे अपनी जमा-जथा लेकर लखनऊ उनके घर आ गई। मौसी जी प्रसन्न क्या हुई और उनके घर क्या आईं जैसे लक्ष्मी जी ही बाबू जी पर प्रसन्न हो गई और उनके घर में प्रवेश कर गई।

इधर मौसी जी लखनऊ आई, उधर बाबू जी ने कमसरियट की नौकरी को लात मारी और प्राणपण से मौसी जी की सेवा में लग गए। मौसी जी को यहाँ की यह सेवा इतनी स्वर्गीय मालूम हुई कि वे वास्तविक स्वर्ग देखने का लोभ अब संवरण न कर सकीं और उन्होंने बड़ी जोर-शोर से उस महान यात्रा की तयारी कर दी। दौड़-धूप और दवा मरने वालों को तो बचाया नहीं करती सो वह मौसी जी को भी न बचा सकी। एक दिन मैं सवेरे उठा तो देखता क्या हूँ कि त्रिलोकी के घर में बडा ही गाना और नाच हो रहा है। वह चबूतरे पर ही खड़ा था। पूछा—क्या बात है, तो बोला—"हमारी दादी मर गई हैं उन्हीं के तमाशे हो रहे हैं।"

"तो तुम्हारे यहाँ कोई मर जाता है तो नाच-गाना होता है?"

त्रिलोकी इस बात का सन्तोषजनक उत्तर न दे पा रहा था कि पड़ोस के एक सज्जन आगए। उन्होंने; कहा—"हम लोगों (खत्रियों) में अगर कोई वृद्धावस्था में मरता है और उसका परिवार भरा पूरा होता

है तो उसकी मृत्यु पर खुशी मनाई जाती है। कम उम्र में मर जाने वालों पर ऐसा नहीं होता।"

मैंने कहा—"यह तो ठीक ही है।"

"तुम्हारे भैया कहाँ हैं?"

"ऊपर हैं, बुलाऊँ?"

"हाँ, हाँ।"—कह कर वे हमारे कमरे में आगए।

भैया ने आते ही कहा—"आज इन बाबू जी की मौसी जी चल बसीं।"

'चल क्या बसीं"—मैंने देखा उन सज्जन की आँखों में चमक आ गई, वे जिस समय आए थे उनके चेहरे से ऐसा मालूम हो रहा था कि वे कुछ कहने को आए हैं, किसी बात को पचा नहीं पा रहे हैं इसीलिये इतना व्याकुल हैं।

"इसके क्या मायने? क्या अभी मरी नहीं हैं?"

"नहीं मर तो गई हैं, आप समझे नहीं।"

"बात क्या है?"

"गला दबा दिया इन्होंने उस बुढ़िया का।"

"जाइये भी, आपने भी क्या बात कही है।"

"आप यक़ीन नहीं करते?"

"यकीन करने लायक़ बात हो तब ना।"

"मेरी माँ ने देखा है।"

"गला दबाते हुए?"

"नहीं गले के पास उँगलियों के निशान।"

"कोई पहले के निशान होंगे, उनकी समझ में उँगलियों के आए होंगे।"

"वे धोखा नहीं खा सकतीं, आखिर इतनी उम्र हुई।"

"कोई उम्र ऐसी नहीं जिसमें आदमी धोखा न खा सके। फिर उनके ऐसा करने की वजह क्या हो सकती है।"

"रुपया।"

"वह तो उन्हें मिलता ही, आज न मिलता, दो दिन बाद मिलता।"

"धन ऐसी चीज है जिसके विषय में आदमी सब्र नहीं कर पाता।"

"बाबू जी इतने नीच नहीं हैं।"

"तो वे उतने ऊँच भी नहीं हैं जितने आप समझते हैं।"

"आखिर मैं भी कुछ आदमी पहचानता हूँ।"

"पहचानने के मायने हैं अन्दाजा लगाना, अन्दाजा कभी भी गलत हो सकता है।"

"मेरा अन्दाजा सौ में निन्यानबे बार सही निकलता है।"

"हाँ तो वह एक बार जो बचता है न, इस बार नहीं है। आप अभी नए नए आए हैं, मैं इन्हें पहले से जानता हूँ।"

"आपकी बुद्धि पर इतना विश्वास करने को मेरा मन नहीं करता।"

"यह आपकी मर्जी है।—कहते हुये वे सज्जन कुछ रुष्ट से होकर चल दिये।"

बाबू जी के यहाँ तमाशा होता रहा। मैं बैठा सोचता रहा अच्छा है कि इनकी जात में वृद्धों के मरने पर खुशी मनाई जाती है वर्ना क्या यह लोग बुढिया के मरने पर शोक मना-सकते।

बड़ी धूमधाम से बुढिया का विमान सजाया गया था। रेशमी दुशाला उढाया हुआ था, गोटा लगा था, पन्नियों में मढे हुये फल और गोले उसमें लगे थे, खूब गुलाल उड़ाया गया और पैसे लुटाये गए।

मैंने देखा उस दिन से त्रिलोकी के घरवालों के ठाटबाट और भी बढ़ गये। बाबूजी की अचकन और लकदक दिखाई पड़ने लगी, पल्लेवाली टोपी में की चुन्नटें कुछ और महीन दिखाई देने लगीं,

चूड़ीदार पैजामा बगुले के परों को मात देने लगा और ग्रीशियन पम्प हमेशा चमचम करता दिखलाई पडने लगा। उनके लिये दुनिया में अगर अब कोई काम था तो ऐश करना। सवेरे काफी देर से वे उठते थे, फारिग होकर नाश्ता करके वे निकल जाते थे, लगभग बारह एक बजे लौटकर स्नान करते, भोजन करते तब हुक्का गुडगुडाते हुए त्रिलोकी राजो के साथ तीन-चार घण्टे शतरञ्ज खेलते थे। मेरा जब तक सवेरे का स्कूल रहा, मैं बिला नागा उनकी यह शतरञ्ज जमते देखता रहता था। त्रिलोकी राजो को कुछ पढ़ाना भी है इसका ध्यान न उन्हें आता था न उनके पिता को। शाम को बाबूजी फिर निकल जाते थे। और अक्सर अपने साले साहब के यहाँ जो एक वकील थे बैठते थे। वहाँ से वे ग्यारह बजे तक लौटकर भोजन करते थे।

—o—

३

हमारी वह लखौरी ईंट के पुरानी ऊँचे-उँचे मकानोंवाली तीन-चार गज चौडी गली—जिसमें पत्थर के चौकों का फर्श लगा हुआ था, जिसका एक-एक मकान कभी सौ-सौ रुपये का खरीदा गया था और जिसकी कीमत अब दस-दस हज़ार रुपए सिर्फ जमीन के कारण हो रही थी—दिन में तो बच्चों की खेल-कूद से खूब गुलजार रहती थी, पर रात को उसमें अक्सर काफी सन्नाटा हो जाता था, क्योंकि गली एक तरफ से बन्द थी, उससे निकलकर रास्ता कहीं को न जाता था इसलिये उसमें वही लोग आते जाते थे जिनके मकान थे। पत्थर का फर्श होने के कारण, खूब साफ रहता था इसलिये बच्चों के खेलने का बडा आराम रहता था। दौड़ें होतीं, छूइ-छुवौवल होती, गुल्ली-डण्डा होता और फुटबाल होता। चाँदनी रात में धूप-छाँह का खेल होता।

पढाई का बोझ जैसा-जैसा ऊँचे दर्जे में पहुँचता गया, कधे पर बढाता गया, पहले भैया के दबाव से जबर्दस्ती नियत समय तक बैठता था अब अपने आप ही काम से छुट्टी न मिलने लगी। रात खूब हो जाती, गली शायँ सायँ करने लगती, सामने के कमरे में शाम को खूब अच्छी तरह फुटबाल खेलने के कारण थके हुये त्रिलोकी और राजो अपनी-अपनी मेजों पर सिर रखकर सो जाते, तब मैं पढाई ख़त्म कर उठता।

मेरे चबूतरे के दाहिने कोने के ठीक सामने त्रिलोकी के घर की रसोई थी, दरवाजा खुला रहने पर सब साफ दिखलाई देता था। जब मैं पढाई ख़त्म करके उठता तो उस दरवाजे के सामने अवश्य जाता था क्योंकि वहाँ त्रिलोकी की माँ (भाभो) रसोई में चूल्हे के पास अवश्य बैठी दिखलाई देती थीं।

वह दुबला पतला, हड्डियों का ढाँचा, घर में इतना सुख-समृद्धि रहने पर भी चिन्ता की आडी तिरछी रेखाओं से चिह्नित मुख मुझसे दयनीय प्राणी की भी सहानुभूति को प्राप्त किये हुये था। उनको उस प्रकार कुछ सोचते हुये मा बैठे देखकर, उनके मुख पर के भावों को देखकर मुझे जैसे शुरू से ही ऐसा मालूम होता था कि घर में यह प्राणी सुखी नहीं है और मेरा यह विचार दिन प्रति दिन विश्वास में, फिर प्रत्यक्ष में ही बदल गया।

वे भी जैसे मेरे सुख-दुख को, अभावों को समझती थीं, मुझसे स्नेह करती थीं इसीलिये पढाई समाप्त करने पर दो मिनट को मैं उनसे बात अवश्य करता था।

"भाभो, बैठी हो अभी?"

उनकी विचार धारा टूट जाती,—"हाँ भैये, अभी तुम्हारे बाबू नहीं आये न, उन्हीं के वास्ते बैठी हूँ।"—कहती हुई वे दरवाजे तक चली आतीं, तुमने पढाई ख़त्म कर दी।

हाँ, अब नींद आने लगी है, फिर सवेरे जल्दी उठूंगा।

"तुम भैये बडी मिहनत करते हो, भगवान् सब देखता है, तुम्हें तरक़्क़ी देगा।"

"देखो भाभो, शायद तुम लोगों का आशीर्वाद काम कर जाय और मैं भी कभी किसी क़ाबिल होऊँ।"

"ज़रूर होओगे, मेहनत कभी बेकार नहीं जाती, हमेशा इसका फल मिलता है। त्रिलोकी राजो तो पड़े सो रहे होंगे।"

"हाँ उन्हें तो नींद आ गई है ?"

"इन दोनों का पता नहीं क्या होगा। ये लोग बिल्कुल पढ़ते-लिखते नहीं हैं। आजकल बेपढ़े को कोई कौड़ी को नहीं पूछता।"

"तो भाभो, उन्हें कमी ही किस बात की है, क्या उन्हें पढ़-लिख कर नौकरी करना है ?"

"और क्या भैये, बिना कुछ किये जिन्दगी पार हो जायगी। बैठे रहने से तो जिनकी करोड़ों की दौलत होती है, वह भी खत्म हो जाती है यहाँ तो ऐसा है ही क्या।"

"तो भी इनके खाने की कमी न पड़ेगी।"

"भैये की बाते ये कौन कह सकता है। लछमनिया (लक्ष्मी) का कुछ ठीक है। आज यहाँ, कल वहाँ।"

"ऐसा क्यों कहती हो भाभो।"

"कहने के मतलब यह थोड़े ही हैं कि ऐसा मैं चाहती हूँ पर सत्य यही है और सत्य कहने में और सुनने में दोनों ही में कड़ुवा लगता है।"

इस तरह अक्सर रात को उनसे मुझसे कुछ बातें हो जाया करती थीं। कभी वे कोई खास चीज बनातीं तो मुझे इसी समय खिलाती भी थीं। मुझे कभी-कभी ऐसा आभास होता जैसे मेरे माँ नहीं है और भाभो के व्यवहार में मुझे शच्चे मातृत्व की झलक मिलती है; इसलिए

मैं उनकी ओर इतना आकर्षित हो रहा हूँ। इसी चीज़ का दूसरा पहलू भी मेरे सामने आता था। भाभो के लड़के हैं जरूर, पर वे जैसे उनसे सन्तुष्ट नहीं हैं, यह नहो कि वे उनसे स्नेह नहीं करतीं। यह तो ससार में भी असम्भव ही है, पर जैसे उनसे उनका मन नहीं भरता। अपने पुत्रों में जो गुण वे चाहती हैं, वे उन्हें उनमें नही मिलते। वे प्रेम ही नहीं मुझ पर कुछ-कुछ श्रद्धा-सी भी करती थीं। सदा मेरी बड़ाई करतीं, सामने और पीठ पीछे दोनों ही। मैं भी सदैव इसीलिए ऐसा ही आचरण करता था जिससे उनकी प्रशसा का पात्र बना रहूँ। इसलिए अगर यह कह दूँ कि सन्मार्ग से फिसलने में भाभो की दृष्टि में गिर न जाऊँ—इस बात ने भी काफी बाधा पहुँचाई है और इस प्रकार भाभो मुझे ऊँचा उठाने में सहायक हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

उनके सामने सदा सर्वज्ञ और सफल बने रहने और दिखलाने की मेरी कोशिश रहती थी। मैं छुटे दर्जे में पढता था। भाभो ने पूछा—"भैये तुम सस्कृत जानते हो?"

"हाँ, हाँ, क्या बात है?"—कह तो दिया, पर मन में धुकधुकी मची हुई थी कि कोई ऐसी बात न कह दें या पूछ दें जिससे वास्तव में मैं न जानता होऊँ।

उन्होंने कहा—"मैं विष्णुसहस्र नाम पढती हूँ, पर ठीक चलता नहीं है, तुम ज़रा कभी-कभी मुझे बता दिया करो।"

मैंने आराम की साँस ली, क्योंकि रतलाम में जब मैं रहा करता था तब मेरी एक पड़ोसिन भाभी विष्णुसहस्र नाम का पाठ किया करती थी और मैं उसे देख चुका था कि उसमे कुछ मुश्किल न था। मैं कभी-कभी भाभो को वह बता देने लगा और मुझ पर उनकी श्रद्धा बढ़ती ही गई।

एक दिन की बात है, भाभो को मैंने कुछ विशेष उदास देखा।

तब तक मैं उनसे काफी खुल चुका था, एकदम पूछ बैठा—"भाभो, क्या तुम सुखी हो ?"

प्रश्न कर चुकने पर मुझे भी उसमें अनौचित्य की मात्रा दिखलाई पड़ी, क्योंकि भारतीय परिवार की स्त्री को सुखी और सन्तुष्ट समझना ही चाहिए। उससे इस प्रकार का प्रश्न करना तो जैसे उसका और उसके पातिव्रत का अपमान करना है। मेरे अनुमान के ही अनुमार ही भाभी जैसे प्रश्न पर कुछ चौंकसी पड़ीं, फिर बोली—"हाँ-हाँ सुखी क्यों नहीं हूँ। मुझे दुख कौन बात का है भैये। सोहाग है, धन है, दौलत है, लडके हैं—मुझे कमी किस बात की है !"

अपनी बात को यों व्यर्थ जाने और नीचे गिरते देख कर मैं कुछ धृष्ट हो उठा—"नहीं तुम मुझसे छिपा रही हो और आज मुझसे झूठ भी बोल रही हो।"

भाभो ने मेरी आँखों में अविश्वास की झलक साफ देखी तो वे अपनी बात का पुनः समर्थन न कर सकी। वे थोड़ी देर चुप बैठी रहीं, जैसे उनके मन में अन्तर्द्वन्द-सा हो रहा था कि वे मुझे इस विषय में जो सत्य है वह बतलावे, अथवा नहीं। काफी देर वे चुप रहीं और मैं भी उनके बोलने की प्रतीक्षा करता रहा।

"हाँ भैये, तुम्हारा अन्दाजा ठीक है, मैं सुखी नहीं हूँ और सच तो यह है कि इस दुनिया में मैं सुख उठाने के वास्ते आई ही नहीं थी। मेरे इस ससार मे आने के कुछ दिनों बाद ही मेरी माँ चल बसी, मुझे उसका दूध भी दस रोज़ से ज्यादा न मिल सका। लोगों ने अन्दाज लगाया था कि यह लडकी अब क्या बचेगी, पर मुझे तो संसार के इन सुखों ! को देखना बदा था, फिर भला मैं कैसे मरती। मेरी एक विधवा मौसी ने मुझे रुई के फाहों में रखकर पाला, डब्बे का दूध पी-पीकर मैं बड़ी हुई और जब अन्न ठीक से खाने पीने लगी तो फिर से अपने बाप के पास भेज दी गई।

मेरे बाप लखनऊ के मशहूर वकील थे। आमदनी उनकी वैसी ही थी जिसको देखकर लोगों ने वकील बनने की धूम बाँध दी और वकालत के पेशे का सत्यानाश ही कर दिया। मेरे बाप की आमदनी बहुत थी, पर वे परले सिरे के कञ्जूस थे। जब मैं अपनी मौसी के घर से आई थी मेरे पिता का दूसरा व्याह हो चुका था, लेकिन मैं व्यर्थ की बुराई न करूँगी, मेरी सौतेली माँ में सौतेलापन विशेष न था। पिता मुझे कुछ अपने विचित्र से मालूम हुये। जब तक मैं नादान थी और मेरी सौतेली माँ के बच्चे न हुये थे मैं समझती थी कि मेरे माँ नहीं है इसीलिये मेरे साथ मेरे पिता ऐसा रूखा व्यवहार करते हैं, पर जैसे-जैसे मेरे सौतेले भाई-बहन होते गए, मेरी यह धारणा बदलती गई। मैंने देखा यह बात नहीं है, उन्हें किसी से प्रेम न था, न अपनी पत्नी से न बच्चों से, बच्चों को तो जैसे वे अपने ऊपर भार-स्वरूप समझते थे और लड़कियों को कर्ज़ के समान ही दुखदायी।

उन्हें सिर्फ पैसा प्रिय था और वे दिन रात उसे कमाने और बचाने की धुन में रहते थे। मैंने जितना काम करते उन्हें देखा है वैसा कम लोग कर सकते हैं। जब तक कि अपनी वृद्धावस्था में वे बीमार नहीं पड़ गये थे, मैंने कभी उन्हें सोते हुये न देखा था; क्योंकि वे हम सब लोगों के सो जाने के बाद सोते थे और बहुत ही तड़के उठ जाते थे। उनके काम करने के बैठके मे हम लोग कभी न जाती थीं, डर के मारे, क्योंकि उनका स्नेह हमें कभी न प्राप्त हुआ था। पर कभी-कभी दरवाजे की सन्धों से सिर्फ कुतूहलवश झाँककर देखती थीं कि वे क्या कर रहे हैं। कभी वे गहरे अध्ययन में डूबे हुये होते थे और कभी-कभी नोटों की गड्डियों को गिनते हुए भी दिखलाई देते थे।

मेरी सौतेली माँ दूसरी पत्नी होते हुये भी उनसे घबराती ही थीं। उसे भी न खाने का सुख था न पहनने का। पिता जी का व्यवहार घर-वालों से जैसा था उससे ज्यादा अच्छा किसी भी बनिये होटल वाले का

होता है, जो सिर्फ अपने ग्राहकों को इसलिये सड़ा-गला और रद्दी से रद्दी भोजन देता है कि वे उसे रुपया दे चुके हैं और उसकी छाती पर चढ़ कर वे खायँगे ही। फिर भी भोजन के नाम पर जितना जाल कपट उससे किया जा सकता है, करता है और अधिक-से-अधिक रुपये लेकर कम-से कम मूल्य का सस्ता भोजन देता है।

पिता जी के पास एक मुसलमान मुंशी था, नौकर के नाम पर वही अकेला हमारे यहाँ था। मोहर्रिरी के काम के अलावा हमारे घर का कोई भी काम करने में वह न हिचकता था। घर का सौदा सुलुफ लाने से, हमारे छोटे भाइयों को आबदस्त करवा देने में भी वह अपनी इज्ज़तहतक न समझता था। पिता जी के स्वभाव को जैसा उसने समझा और उसके अनुसार कार्य करना सीखा था, वह बस वही कर सकता था। बाजार की सड़ी-से-सड़ी और सस्ती से-सस्ती तरकारी जिसे काटने में ही घंटों लगजाते थे लाकर देना उसी का काम था, पिता जी तो सिर्फ उसे रास्ता बता दिया करते थे। एक एक पैसे के लिए ज़िद्द करते और रोते-रोते हम लोगों को बुख़ार तक आ जाता पर वह न पसीजता था। ऐसा सच्चा स्वामिभक्त नौकर था वह।

कभी-कभी जब कचहरी की छुट्टी होती थी तो पिता जी यह भी जाँच कर लिया करते थे कि घर का कौन प्राणी कितना खाता है। बाज़ार में जो सब से छोटे साइज़ की चम्मच मिलती है नियत थी। उससे नाप कर घी हर आदमी को गर्मी मे मिलता था। जाड़े में वह घी की गोलियाँ बना रख देते थे और उतनी ही बड़ी गोली एक आदमी एक बार खाते वक्त पा सकता था।

'हम लोगों को पिता जी से कोई शिकायत हो सकती थी अगर वे स्वयं अच्छा खाते या पहनते, पर ऐसा न था। एक ही काली अचकन से उन्होंने अपनी सारी वकालत और उम्र भी काट दी। वह बिल्कुल ख़स्ताहाल हो गई, रङ्ग बिरङ्गे पेबन्द उसमें लगे, पर वह बदली न गई।

अपने नाश्ता करने के वास्ते वह एक पुराने कपड़े में भुने हुये छोटे-छोटे आलू, (जिन्हें मुंशी मण्डी से छाँट कर सस्ते से सस्ते मूल्य में लाता था) और नमक कचहरी ले जाते थे।

इस प्रकार मायके में मेरी ज़िन्दगी बीती। लड़कियाँ मायके में जी भर कर खेलतीं और खाती हैं। वहाँ खाने को ऐसा मिलता ही न था कि खेलने का किसी में दम आवे। पिता जी ने इस प्रकार का जीवन बिताकर और घोर परिश्रम से कई लाख रुपया जमा किया। जाने कितनी जमीन और मकान उन्होंने लखनऊ में ख़रीद डाले। दो कोठियाँ ऐसी बनवाईं, जिनकी लाख-लाख के ऊपर उस वक्त लागत लग गई। कई गाँव भी ख़रीदे। मेरा और मेरी बहनों का व्याह हुआ, इनमें पिताजी ने कन्जूसी से काम लिया। व्याह उन्होंने ऐसी ही जगहों में किये, जहाँ कम से कम खर्च में हो जाय और कुछ उन्होंने न देखा। लोगों ने हमारे यहाँ व्याह किये थे, इस लालच से कि यहाँ खूब मिलेगा, क्योंकि जमींदारी इत्यादि ख़रीद लेने पर पिताजी के धनी होने की बात सब पर प्रगट हो चुकी थी; पर व्याहों में जैसा उन्होंने हाथ सिकोड़ा उसे देखकर लोगों को उनसे घृणा हो गई। अब अपने मुँह से कहाँ तक कहूँ, सवेरे के वक्त कोई उनका नाम न लेता था। लोगों को ख्याल नहीं, विश्वास था कि उनका नाम लेने से दिन भर भोजन न मिलेगा। इसी प्रकार सूमपने में पिताजी ने ज़िन्दगी बिता दी, न कभी खाया न पहना। हाँ, अपने लड़कों के लिये वे अपार धन और जायदाद छोड़ गये, जिसका अब वे लोग उचित उपभोग कर रहे हैं।

व्याह के बाद मैं यहाँ आई। यहाँ वैसी कौड़ी-कौड़ी की मोहताजी तो न थी, दिन पर दिन अच्छे ही दिन आते गये, पर साथ ही साथ परिवार भी बढ़ता चला गया और सब के सुखी होते हुये भी न जाने कैसी मेरी तक़दीर है कि मैं सुखी न हो सकी। वैसे यहा जो कुछ दशा है वह तो तुम देखते ही हो।"

मैं वास्तव में देखता था कि घर में सब कुछ होते हुए भी जैसे भाभो के लिए कुछ न था। अगर कभी भी कोई ज़रा सी चीज वह लेकर बैठती थीं तो सारे छोटे बच्चे इकट्ठा हो जाते और भाभो के मुँह तक रत्ती भर चीज न पहुँच पाती थी। सब बच्चे उनके पास इकट्ठा हो जाते थे और थोड़ी-थोड़ी देते उनके पास कुछ न रह जाता था। लोगों को यह सौभाग्य की बात मालूम होती होगी कि किसी के इतना परिवार हो, भाभो को भी शायद ऐसा ही मालूम होता होगा, लेकिन अनेकों बार मैंने उन्हें झुंझलाकर बच्चों के सामने चीज़ें पटकते हुए देखा था— "लो तुम्हीं सब खा लो।"—कहकर वे वहाँ से उठ जातीं। यह नहीं कि घर में किसी चीज की कमी थी अथवा बच्चे किसी चीज को तरसे हुए थे, पर यह बच्चों की आदत होती है कि वे एक चीज़ चाहे जितनी खा चुके हों अगर माँ को खाते देखेंगे तो जरूर माँगने लगेंगे। कभी-कभी तो यह अच्छा लग सकता है पर रोज रोज होने पर यही खलने लगता है। घर के बच्चों का कुछ कह सुन सकने का भी उन्हें अधिकार न था। राजो और त्रिलोकी तो बडे भी थे, फिर भी वे चाहें पढे, चाहे न पढे उनको उन्हें कुछ कह सकने की हिम्मत न थी। उनसे छोटी दो लड़कियाँ चन्दो और शान्ती थीं, उनसे छोटा एक लड़का रमेश था और उससे भी छोटी एक लड़की प्रमिला थी। इन छोटे बच्चों पर भी भाभो का कुछ अधिकार न था, यानी काम तो उनका सब उन्हीं को करना होता था, पर उनके शैतानी करने पर या जिद्द करने पर वे उन्हें डाँट या मार न सकती थीं। अगर कभी भी वे इस प्रकार की बात करतीं तो लड़कों की बुआ उनके सिर हो जाती थी और यहाँ तक कि उन्हें पीछा छोड़ाना मुश्किल हो जाता था। इसका फल यह होता था कि लड़के भाभो से बिगड़े रहते और बुआ से खुश रहते।

जहाँ कोई लड़का लड़की पढ़ता न हुआ, भाभो ने कहा—"क्यों

तुम लोग पढ़ने नहीं बैठोगे।"

"क्या दिन भर पढते ही रहें ?"

"हाँ दिन भर तो तुम जरूर पढते रहते हो।"

"तुम तो इसी तरह पीछे पड़ी रहती हो"—जहाँ बच्चे ने मुँह बनाया, कि बुआ बिगड़ीं—"अरी भाभो कैसी औरत है तू, मेरी समझ ही में नहीं आता है कि तेरा कैसा मिजाज है, अपने ही बच्चों को देखे कुढी जाती है। क्या दिन भर पढ़ते ही रहें। कौन मेरे भतीजों को नौकरी करनी है जो पढ-पढकर आँखें फोड़ें। भैये (बाबू ब्रजनाथ) ही कितना पढे हैं जिनके पीछे-पीछे लक्ष्मी घूमती है। तुझे दस दफे समझाया कि लड़कों के पीछे मत पडा कर, पर तू नहीं मानती· · ·।"

इसी तरह जरा-सी बात पर बुआ घण्टों लेक्चर देतीं, ऐसी-ऐसी तीखी बातें कहतीं कि भाभो रोने लगतीं। कभी-कभी बुआ की बातों का वे जवाब भी देतीं थीं पर वह ऐसा ही मालूम होता था जैसे किसी महारथी के सामने कोई नौसिखिया खडा हो जाय। बुआ लड़का झगड़े की कला में निपुण थीं और भाभो इसमें बिल्कुल शून्य। इसलिए झगडे का अन्त मैंने अधिकतर इसी रूप में होते देखा था कि बुआ एक से एक तीखा बाण बैठी हुई छोड़ती जाती थीं और भाभो घर का काम करती हुई रोती हुई चुपचाप सुनती जाती थीं। इस पर भी जल्दी ही उनका पीछा न छुटता था, बुआ कहतीं—"उसने तो मुझे पागल बना रखा है, बकबक कर रही हूँ कुतियों हूँ भौंक रही हूँ। कोई सही बात कहूँ तो जवाब दे।"

भाभो बेचारी परेशान होकर कहती—"अरे बीबीजी, तुम तो न इस तरफ चैन लेने दो, न उस तरफ। बोलूँ तो जबान पकड़ती हो, न बोलूँ तो भी नहीं छोड़तीं।"

"मैं तो लडाका हूँ, मेरा तो दिमाग ख़राब है, तू बड़ी सुशील है"—

फिर बुआ कहना शुरू कर देती। भाभो बिल्कुल चुप हो जातीं।

कभी तो इस तरह भाभो की शान्ति के कारण झगडा शान्त हो जाता, पर कभी इससे अधिक भयानक और कारुणिक रूप पकड़ते मैंने उसे देखा था। बाबूजी भी उसमें भाग लेते थे और पता नहीं सतयुगी कहलाने का श्रेय लेने के वास्ते अथवा स्त्री की ओर कम प्रेम और सहानुभूति का अभाव होने के कारण वे भाभो को, इतने बच्चों की माँ हो जाने पर भी, बडी बुरी तरह मारते थे। यद्यपि खत्रियों में मैंने यह एक अच्छी बात देखी थी कि वे स्त्री पर हाथ उठाना बुरा समझते हैं। उनके यहाँ स्त्रियाँ काफी तेज होती हैं, बहुत सी तो पतियों को दबा कर रखती हैं। (यद्यपि यह चीज आजकल सर्व व्यापी है, पर उनके यहाँ इसका ज्यादा प्रचार है।) मेरे ही मुहल्ले मे एक ऐसा घर मौजूद था, जहाँ पत्नी कभी-कभी पति देवता की मरम्मत कर दिया करती थी, क्योंकि वे निखट्टू थे और उसकी मायके से मिली हुई जायदाद पर ही बसर करते थे। मेरे लिए मोहल्ले में खत्रियों के यहाँ की यह बात अजीब मालूम होती थी। क्योंकि मैं था कान्यकुब्ज ब्राह्मण जहाँ बीसवीं सदी में भी लोग स्त्री को पैर की जूती (चमरौधा ज़्यादा उपयुक्त है) के बराबर भी नहीं समझते और किसी क्षण भी उसके सिर को अपने जूते से सम्मानित कर सकते हैं।

बेचारी भाभो का इस प्रकार घर में यदि अस्तित्व था (वह तो मानना ही पड़ेगा) तो बडा ही तुच्छ था। बुआ ने उन्हें अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से उन्हें बहुत ही अप्रतिभ कर दिया था। बुआ बड़ी थोड़ी ही उम्र में विधवा हो गई थीं और फिर बराबर अपने एकलौते भाई ब्रजनाथ के साथ ही रही थीं। बुआ यद्यपि भारतीय विधवा थीं पर भारतीय विधवा के समान दयनीय प्राणी बनना उनके स्वाभाव ने स्वीकार न किया था। वैधव्य आया, पर वे ज़रा भी नम्र न हुई बल्कि उनके मिज़ाज की गर्मी बढती ही गई। बाबू ब्रजनाथ और उनके बच्चों

पर अपने स्नेह और सौजन्य का ऐसा प्रभाव जमा रखा था कि वे लोग उन्हें परिवार में भाभो से अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। यद्यपि बुआ से काम कुछ न होता और बेचारी भाभो ही दिन भर जुटी रहती थीं। महीने में तीन-चार दिन जब बुआ को मजबूरन काम करना होता था, तब घर में दिन भर कोहराम मचा रहता था और भाभो को तो रोते ही बीतता था। फिर भी बुआ इतनी व्यवहार-कुशल और मिठ-बोली थीं कि लड़के समझते थे कि वे ही उनकी जीवनाधार हैं। ऐसा राग उन्होंने फैला रखा था कि अगर जरा सा बिगड़ जाने पर वे क्रोध में कहीं चली जाने को कहतीं तो सब बच्चे उनसे पहले घर से निकलने को तैयार हो जाते और भाभो को बुआ को मनाना पड़ता। एक दफे रमेश (त्रिलोकी के छोटे भाई) को काफी बड़ा हो जाने पर मैंने यह कहते हुये सुना था—"भाभो तो हम लोगों को देखकर जलती हैं, बुआ न हों तो हम लोगों का घर में बसर न हो।" इसका कारण यह था कि बुआ अपने पैसों में से कभी किसी को, कभी किसी को कुछ खिला-पिला दिया करती थीं और उनकी नालायक़ियों का पक्ष लेने के लिए और उनके वास्ते भाभो को खरी-खोटी सुनाने के लिए तो हमेशा तैयार रहती थीं। उनकी सब से अधिक कृपा त्रिलोकी की छोटी बहन चन्दो पर रहती थी। इसका फल यह था कि माता से स्वभावतः सीधापन पाने पर भी वह लड़की जिद्दी और अपने मन की करने वाली होती जाती थी। बुआ ने उसे शौक़ीन भी बना दिया था, वह इतनी ही अवस्था में बनना सँवरना काफी सीख गई थी, सुन्दर वह स्वय भी बहुत काफी थी और बुआ का यह सहयोग उसे अपने को कुछ समझने का पाठ खूब पढ़ा रहा था।

—o—

४

"तू अपना काम क्यों नहीं ठीक करती ?"

"देखिये हुजूर, तू तड़ाक से बातचीत न कीजियेगा, यहाँ कोई कमीन नहीं हैं, मेहनत करते हैं और उसका मेहनताना मिलता है, किसी के यहाँ भीख मागने नहीं जाते हैं।"

इतनी साफ जबान और इतना लम्बा लेक्चर सुन कर मेरी तबियत पहले कुछ आश्चर्य में पड़ी और फिर क्रोध से जल-भुन गई। हमारे खंडवा की मेहतरानी अथवा मेहतर बहुत कुछ डाटने-फटकारने पर भी भैया-भैया के अलावा कुछ न कहते थे, सिर झुकाए चले जाते थे, आँख न उठाते थे। यहाँ की मेहतेरानी तो छोटों को टेढ़ी और समझदारों को ज़रा सी बात कहने पर तिर्छी नजरों से देखने लगती थी। उस वक्त तक लखनऊ वालों की यह गर्वोक्तियाँ कि—यहाँ की मेहतरानियाँ जैसी बोली और उदूं बोलती हैं वैसी तो दिल्ली वगैरह बड़े-बड़े शाही शहरों के शरीफ से शरीफ शाही ख़ान्दानों के लोग भी न बोल पाएँगे।

मैंने गुस्से में कहा—"अच्छा कल काम पर क्यों नहीं आई, तू कमीन नहीं है, बड़ी लाट साहब की नातिन है।"

"एक ज़रूरी काम लग गया था, इसलिए नहीं आ पाई।"

"तो म्युनिसिपैलिटी में क्यों इत्तला नहीं की, तेरी एवज़ी पर कोई आता, यहाँ सारा मोहल्ला भिनकता पडा रहा, जानती है यह कितना बड़ा जुर्म है।"

"सब जानती हूँ, नहीं मौक़ा मिला"—यह कह कर उसने अपने बटुए से दो पान निकाल कर खाए और झूमती हुई सी जाकर अपना काम करने लगी।

"मैं इसकी रिपोर्ट करूँगा"—मैंने ताव से कहा।

"बेकार है"—सामने के चबूतरे पर खड़ा हुआ त्रिलोकी बोला।

"क्यों?"

"ऐसा ही मामला है।"

"मैं हेल्थ आफिसर को लिखूँगा।"

"आप वाइसराय को लिखिए।"

"उसकी छोटे राय साहब से दोस्ती है।"

"कौन छोटे राय साहब?"

"यहीं वाले" उसने दाहिने तरफ के बड़े मकान की तरफ हाथ उठाते हुए कहा।

"वह क्या हैं?"

राय साहब ख़ुद तो बड़े भारी ज़मींदार हैं, पहले म्युनिसिपल चेयरमैन भी रहे हैं। आदमी भी सज्जन हैं, पर उनके छोटे भाई जो सम्मन साहब कहलाते हैं, सिर्फ शौकीन हैं और मौज करते हैं। इस मेहतरानी का उन्हीं से सम्बन्ध है, देखते नहीं हो कैसे बन-ठन कर रहती है? यह उन्हीं की बदौलत है। इस बात को सभी लोग जानते हैं, इसीलिये कोई कभी इसके विरुद्ध कुछ लिखने का साहस नहीं करता और जो कुछ करता है वह अपने मुँह की खाता है।

उस दिन से मैं राय साहब और उनके परिवार के विषय में अधिकाधिक जानने के लिये उत्सुक रहने लगा। राय साहब स्वय बड़े ही सज्जन आदमी थे, जैसा उनके चेहरे से ही मालूम होता था। उनकी कभी जोर से बोलने की आवाज़ तक नहीं सुनाई देती थी। उनके बहुत बड़े ज़मींदार होने की बात तो मैंने पहले ही सुन ली थी, अब यह भी सुना कि रईसों के मुख्य आभूषण ऋण से भी खूब ही लदे हुए थे यह था उनके छोटे भाई सम्मन की बदौलत—जो खाने के साथ पीने के भी शौकीन थे और ऐय्याशी में अपना सानी नहीं रखते थे।

उनके घर के विषय मे जो चीज़ सब लोग आसानी से जान सकते थे वह यह थी कि उनके यहाँ लड़किया बहुत हैं। क्योंकि घर के पास से किसी भी निकलने वाले को वे अपने मकान की खिड़कियों से झाकती हुई या दरवाजे पर मुस्कराती हुई सौदा ख़रीदती, दिखलाई दे जाती थीं।

हम लोग जब पहले पहल दिन इस मकान में आये तो वे लोग खिड़कियों से आकर झाकने लगीं। हम लोगों ने मन मे सोचा—कैसी वेशरम लड़किया हैं ये। इतने में भैया भी ऊपर आये और हमें बडा आश्चर्य हुआ जब वे उन्हें देख कर भी न हटो। भैया को भी शायद इसमें अपने पुरुषत्व का बडा अपमान मालूम हुआ, क्योंकि जो पहला काम उन्होंने किया वह यह था कि भाभी को कमरे के अन्दर ले जाकर यह कहते हुये कि उनकी समझ में इन लड़कियों का चाल-चलन ठीक नहीं है उनसे बात-चीत करने की सख़्त मुमानियत कर दी।

उन लड़कियों के विषय में जो बात सबकी धारणा को ख़राब कर देती थी वह यह थी कि चाहे जितने आदमी बैठे हों और चाहे सब के सब उनकी तरफ टकटकी लगाकर देखते रहें, वे अपनी जगह से हटने का नाम न लेती थीं। गा गाकर वेचने वाले फेरी वालों से वे दरवाज़े पर खडी घण्टों गज़लों और कजली बारामासों की किताबें ख़रीदा करती थीं।

इसका फल यह था कि उनके घर के आस-पास दो चार लफंगे ज़रूर चक्कर काटा करते थे। एक रोज मैं स्कूल से आया तो क्या देखता हूँ कि गली में राय साहब के पिछवाड़े के दरवाजे के पास एक जवान मुसलमान फक़ीर खड़ा हुआ है। वह उतना गन्दा नहीं है—जैसे आम तौर पर भिखमगे हुआ करते हैं। आँखों में सुर्मा लगा हुआ है और वह गा रहा है :—"अपने मस्तों को शैदा बनादे, काली कमली के ओढन वाले।"

वे लडकियाँ ऊपर खडी हुई गाना सुन रही हैं। इसके बाद एक कागज पेन्सिल ले आई और उससे वह गाना लिखा देने को कहा। वह एक-एक कड़ी करके बड़ी देर तक लिखाता रहा और वह लिखती रही।

उन लोगों की इन बातों की वजह से हमारे यहाँ वालोंने उनसे कभी भी बात करना ठीक न समझा, यद्यपि प्रारम्भ में उन लोगों ने प्रयत्न किया कि हमारे यहाँ से उनसे बोल-चाल हो जाय। हमारी भाभी की एक भतीजी आई हुई थी। एक दिन शाम को वह मसाला पीस के आई तो उसके हाथ छरछरा रहे थे और वह उन्हें हला रही थी जिससे उसके हाथों में ठण्डक पड़ जाय। राय साहब के यहाँ की लडकियाँ खडी देख रही थीं, एक बोली—हाथों में घी लगा लो,तो जल्दी ठण्डक पड जायगी।

अकसर वे लोग इस तरह बोलने का प्रयत्न करता, पर हमारे यहाँ से कोई कभी भीं न बोलता। इसका फल यह हुआ कि वे लोग हमारें घर वालों से बिगड़ गईं और हम लोगों को परेशान करने की कोशिश करने लगीं। कभी हमारे घर में मरा चूहा फेंक देतीं, कभी गोश्त खाकर हड्डियाँ और कभी रात बिरात पत्थर भी हमारे यहाँ आने लगे। हमारे उनके घर के बीच में सिर्फ एक तीन-चार गज की गली का अन्तर था। होली के हफ्ते दो हफ्ते पहले से हम लोग जब ऊपर कपड़े सूखने के लिये फैलाकर नीचे चले जाते तो वे लोग उन्हें रँगकर ख़राब कर देतीं। दिन पर दिन उनकी यह ज्यादतियाँ बढती ही जाती थीं, उनका कोई अन्त ही न था।

एक दिन भैया ने कहा—"दबने से काम न चलेगा। इस तरह तो यह लोग सिर पर ही चढती चली जायँगी। इनको जवाब मिलना चाहिये।"

फल यह हुआ कि पत्थर के जवाब में ईंटे फेंके जाने लगे। हम लोगों ने भी पिचकारियों से उनके यहाँ रँग फेंकना शुरू किया। अन्तर यह था कि उनका मकान ऊँचे पर था इसलिये जितना वे लोग हमारे

साथ आसानी से शरारत कर लेती थी उतना हमारे यहाँ से न हो पाती थी।

एक रोज रात को उनके यहाँ से नौ बजे के क़रीब एक बड़ा-सा ईंटा हमारे आगन में आकर गिरा। मैंने भी छत पर जाकर खूब जोर से वह ईंट उनके घर में फेंक दिया और नीचे चला आया।

ईंटे का उनके यहाँ जाना था कि एक बाव-बेला मच गया। घर के अन्दर ऐसा शोर ग़ुल सुनाई दिया कि जैसे कहीं बम फटा हो। सम्मन साहब छत पर चढ़कर आए और उन्होंने ज़ोर से चिल्लाकर कहा—"ये इस मकान में कौन कमीने बसते हैं, जो पड़ोसियों के यहाँ ईंटे फेंकते हैं।"

यह तो मैं कैसे कहूँ कि कमीने के कहने का मैंने बुरा नहीं माना। सच बात तो यह थी कि मैं डर गया। भैया घर में थे नहीं, वे ड्यूटी पर गये हुये थे। वे होते तो उन्हें कुछ जवाब भी मिलता, इसीलिये हम लोगों की तरफ़ से इस वक्त बिल्कुल शान्ति रखी गई। सम्मन साहब अपनी छत पर खड़े बड़ी देर तक उबलते रहे, मैं यह करूँगा और वह करूँगा—पर हमारी चुप से वे हार गये। नौकर को भेजकर बाबू ब्रजनाथ को बुलाया और जाने क्या बातें की।

दूसरे रोज़ भैया ड्यूटी पर से आये तो उन्हें हाल मालूम हुआ और उन्होंने कहा कि वे हर तरह निबटने को तयार हैं। उस रोज़ बाबू ब्रजनाथ और भैया से बात हुई और भैया ने उन्हें सारा कच्चा चिट्ठा समझा दिया। शाम को सम्मन साहब बाबू ब्रजनाथ के यहाँ आये और उनसे और भैया से बातचीत हुई। उस दिन से हमारा उनका युद्ध बद हो गया, एक प्रकार से सुलह ही हो गई क्योंकि भाभी और वे लोग कभी-कभी बातें करने लगीं। कभी वे भाभी का जम्पर का कपड़ा नमूने के लिये मँगवातीं और कभी भाभी उनके बुन्दे वैसे ही बनवाने के वास्ते मँगवा लेतीं। अर्थात् हमारा उनका बिल्कुल मेल ही सा हो गया।

एक दिन मेरी और मेरे भाई बब्बू की लड़ाई ज्यादा जोर पकड़ गई। यहाँ तक कि उनका संदूक खोलकर मैंने उनके कपड़े ज़ोर-जोर से बाहर फेंके और उन्होंने मेरे। यह कपड़े सब राय साहब के यहाँ जाकर गिरे, तो उन लोगों ने इतनी भलमसी की कि अपने नौकर के हाथ सब कपड़े भिजवा दिये वर्ना उस दिन हम लोगों की एक भी हड्डी भैया साबित न रखते।

—०—

५

राजू और त्रिलोकी को जीवन का यह आनन्द कितना महँगा पड रहा था इसका कुछ आभास मुझे उस समय होता था जब कि परीक्षाओं का फल प्रकाशित होता था। राजू को मैंने देखा था कि वे लीडर की उस प्रति को जिसमें, हाई स्कूल का रिजल्ट निकला करता था तीन-तीन दिन देखा करते थे, पर उसमें उन्हें अपना नाम न मिलता था। इन दो-तीन दिनों ही जब तक कि वे अपना नाम खोजने में व्यस्त रहते थे मुझे उनके मुख पर चिन्ता के कुछ-कुछ चिह्न दिखलाई पड़ते थे, पर शीघ्र ही उनके माता-पिता और बुआ की अनुनय विनय उन्हें साधारण रूप से हँसी-खुशी और खेल-कूद का जीवन बिताने को विवश कर देती थी। त्रिलोकी भी अक्सर परीक्षा फल निकलने के दिन रोता सिसकता आता था। उसका दुख चन्द घण्टों ही रहता था और शीघ्र ही वह भी मना लिया जाता था। जब फेल होने पर राजू और त्रिलोकी मनाये जाते तो मुझे बडा आश्चर्य होता, क्योंकि मैं तो तिमाही-छमाही इम्तहानों में भी फेल होने पर जिनमें अध्यापक लोग फेल करना लड़कों के भलाई के लिये, जरूरी समझते हैं, इस बुरी तरह डाँटा और पीटा जाता था कि वार्षिक परीक्षा में फ़ेल होने की हिम्मत ही न होती थी। एक दफे नवें दर्जे में यह गलती हो गई थी। तब कैसा विकट अनुभव हुआ था, वह आज-तक याद है।

राम-राम करके तीसरे वर्ष राजू किसी तरह थर्ड (रायल) डिवीजन में हाई स्कूल पास ही हो गए। खूब ही खुशी मनाई गई, मिठाई बॅटी, दोस्तों को दावतें खिलाई गई और खूब ही आनन्द रहा। दूसरे साल राजू ने क्रिश्चियन कालेज में फर्स्ट इयर में अपना नाम लिखाना और Frist year is the rest year (पहला साल आराम का साल है) को पूर्णतया चरितार्थ करने लगे। वे नये-नये, फैशन वहाँ से सीख कर आने लगे। फुटबाल हाकी खेलकर और रात में घर लौटने लगे और पढने की मेज़ पर सर रख कर और जल्दी सो जाने लगे। त्रिलोकी इन चीजों में उनके चरण चिह्नों का बराबर अनुकरण करता रहा और अगर राजू दूसरे साल एक क्लास पास करते थे तो त्रिलोकी तीसरे साल करने लगे।

राजू की अवस्था उस समय लगभग उन्नीस वर्ष की होगी जब वे फर्स्ट इयर में आए थे। खिलाई-पिलाई अच्छी थी ही, स्वास्थ्य भी अच्छा था, युवावस्था का पूरी तौर से आगमन उनमें दिखलाई देता था। एक दिन मेरे मन में यह खटका कि राजू बाबू की कुर्सी अब अपनी मेज के पास से हटकर दरवाज़े की चौखट के पास खिसक आई है और उसपर उनका बैठना भी काफी बढ गया है, यहाँ तक कि खेल के टाइम में भी कमी होने लगी है। देर में जाते हैं और जल्दी लौटते हैं। कुर्सी की इतनी कडी हाजिरी देने का कारण मेरी समझ मे बड़ी मुश्किल से आया और वह यह था कि उस जगह से राय साहब के मकान की पिछवाडेवाली खिडकी की सीध बनती थी।

कुर्सी पर इस प्रकार नियम से बैठने के पश्चात् एक दिन राजू के हाथ में मैंने निकेल की एक बासुरी देखी। अब सारा माजरा मेरी समझ में आया। मुझे बड़ी हँसी आई और राजू के अध्यवसाय की मैंने मन ही मन प्रशसा भी की, क्योंकि बाँसुरी पर सा रे ग म से प्रारम्भ करके वे शीघ्र ही अपनी स्वर लहरी में इतनी शक्ति पैदा कर लेना चाहते थे

कि गोपियों की तरह राय साहब के घर की उनकी मन चाही कोमलाङ्गी उन पर मोहित हो जाय। साहस और अध्यवसाय का सिर्फ़ एक ही ऐसा उदाहरण मेरी आँखों के सामने और आया था—मैं एक चित्रकार के यहाँ बैठा हुआ था, उस से एक युवक ने जिसने कभी ड्राइङ्ग भी न पढ़ी थी, आकर यह पूछा था कि क्या वह उसे इतनी चित्रकला सिखला सकता है कि वह अपने मृत पिता का स्मृति से चित्र बना ले।

बड़े परिश्रम से राजू बाँसुरी बजाने लगे; शायद कहीं सीखने भी जाते थे और कुछ ही दिनों में वह बड़े-बड़े प्रभावशाली गाने उस बाँसुरी पर बजाने लगे। मुख्यतः वे अपनी ताक़त की आज़मायश इन दो गानों से किया करते थे, एक तो:

कैसा तीर नजर का मारा घायल कर डाला, नन्दलाला हाँ हाँ।

और

कासे लागी नज़रिया, हाँ हाँ रे कासे लागी?

वास्तव में यह गाने थे भी बड़े प्रभावशाली और राजू में भी मोहन के मार्ग का अनुसरण करने के कारण शायद कुछ मोहिनी शक्ति पैदा हो गई थी: क्योंकि उनकी इस साधना का असर शीघ्र ही सामने की खिड़की पर दिखलाई दिया और राय साहब के यहाँ की तीन लड़कियों में मँझली जो न बड़ी के समान इतनी काली थी और न छोटी की-सी अज्ञातयौवना, अक्सर खिड़की पर दिखलाई पड़ने लगी। यह व्यापार बहुत दिनों तक चलता रहा, यहाँ तक कि मोहल्ले की औरतों, आदमियों और लड़कों तक में इसके विषय में फुस-फुसाहट सुनाई देने लगी, पर राजू के माता-पिता के कानों पर जूँ न रेंगी तो न रेंगी।

एक दिन खेल कर लौटने के पश्चात् राजू के साथ उनके दो एक बड़े ही घनिष्ट मित्र भी साथ आये और गली के अन्दर खूब पटाके छुड़ाये गए। बड़ी-बड़ी नवाब गँजियाँ, बान और मेहताब छूटने से गली खूब ही प्रकाशित और गुल्ज़ार रही। लड़कों बच्चों की उपस्थिति ने

उस अवसर पर और भी जान डाल दी। राय साहब के यहाँ की लड़कियों ने भी इस आतिशबाजी का काफी आनन्द उठाया।

गली से निकलने वाले बहुत से मोहल्ले के लोगों ने राजू से इस बेवक्त और वे मौका आतिशबाजी का कारण पूछा कि वह किस खुशी में छुड़ाई जा रही है—पर वे 'यों ही' 'यों ही' कह कर सब को हँसी में टालते गये। त्रिलोकी से मेरी घनिष्टता काफी बढ़ ही गई थी, मैंने उसे बुलाकर पूछा—"आखिर यह आतिशबाज़ी किस खुशी में छुड़ाई गई है?"

पहले तो वह टालता रहा—मैं क्या जानूँ, मुझे क्या मालूम, पर मेरे बहुत आग्रह करने पर बोला—"भैये, एक कोशिश बहुत दिनों से कर रहे थे उसमें उन्हें कामयाबी हुई है, उसी की खुशी में।"

"काहे की कोशिश ?"–मैंने पूछा।

"अब बनो न"—उसने कहा और राय साहब के घर की तरफ हाथ उठा दिया।

अब खुशी का कारण मेरी समझ में आया। लड़कों की मारफत इस घटना को खूब ही विज्ञप्ति मिली, सबने अपने-अपने मित्रों से कहा और अन्त में कहा—देखो किसी से कहना नहीं। बात किसी तरह बाबू ब्रजनाथ तक पहुँची पर उन्होंने राजू से कुछ कहा सुना नहीं, सिर्फ उनके ब्याह के विषय में प्रयत्नशील हो गये और बड़ी धूम-धाम से राजू का ब्याह हो गया।

राजू तो एक बन्धन में बँध ही, उनकी उछल-कूद तो कुछ कम हुई ही, साथ ही साथ त्रिलोकी भी कुछ दिन अपनी नई भाभी के आकर्षण से घर में घुसा रहा, पर शीघ्र ही वह कुछ नई भावनायें मन में लेकर घर से निकला। अब राजू का और उसका उतना अविच्छिन्न साथ न रहता था, क्योंकि दोनों की परिस्थितियों में अन्तर हो गया था। त्रिलोकी अब मुझे कुछ खोया-खोया सा दिखलाई देता था। मैं मन में अनुमान लगाता था, शायद राजू के ब्याह हो जाने के कारण वह कुछ अभार का

अनुभव करता है।

लखनऊ में रहते हुये अब मुझे भी चार साल बीत गये थे, वहां की हवा ने अपना स्वाभाविक असर किया था। मैं भी अपनी गिन्ती चालाकों में करने लगा था और तो और त्रिलोकी वगैरह को भी अपने आगे कुछ न गिनता था। मोहल्ले के लड़कों में भी त्रिलोकी को कोई विशेष बुद्धिमान या चालाक न समझता था। खूब ही गौर वर्ण, गालों की हड्डियाँ उठी हुई, बैठता था तो अक्सर दोनों ओंठ इतना खुल जाते थे कि उसके पीले दाँत दिखलाई देने लगते थे। मैं अक्सर उसे यह कह कर चिढाया करता था कि जिनके ओंठ खुले रहते हैं, वे मूर्ख हुआ करते हैं। पढने-लिखने में उसकी कमजोरी हम लोगों के इस ख्याल को कि वह बुद्धिमान और चालाक नहीं है, और भी पक्का किए हुये थी। वास्तव में उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी जिससे हम यह विचार कर सकें कि वह किसी दिन वाचालता दिखायेगा।

ऐसे सीधे-सादे त्रिलोकी के विषय में एक रोज़ जब एक पडोस के लड़के ने मुझ से आकर कहा—"त्रिलोकी का अमुक लडकी से··· ·।"

तो मैं जैसे आसमान से गिरा, पर शीघ्र ही मुझे कहने वाले पर विश्वास न हुआ, "धत, झूठे" मैंने बात पूरी सुनने के पहले ही कह दिया।

"मानो तो, बात बिल्कुल सची है।"

उसकी दृढता देख कर मैं चुप हो गया। शाम को त्रिलोकी से भेंट हुई, "सुन बे" मैंने उससे कहा—"यह तेरे विषय में क्या सुन रहा हूँ ?"

उसके मुख पर स्त्रियों की सी लजा झलकने लगी, पर वह बोला कुछ नहीं।

तुम मोहल्ले में गन्दगी फैला रहे हो, यह बात सच है ? बोलो, जवाब दो।

बहुत पूछने पर वह बोला—"हाँ, झूठ तो नहीं है।"

"कहीं मरम्मत न हो जाय तुम्हारी इस मामले में।"

वह चुप ही रहा।

मैंने कहा—"मैं क्या कहता हूँ, कुछ समझ में आता है?"

वह वेशर्मी से बोला—"जब मियाँ-बीबी राजी, तो क्या करेगा काजी।"

"ओफ हो! अब तुम्हारे बुरे दिन आ गए, मालूम होता है।"

वह हँसता हुआ चला गया। मेरी बात की गंभीरता को उसने अपने पास तक न फटकने दिया।

—०—

६

बाबू ब्रजनाथ के नौकर चुन्नीलाल का व्यक्तित्व ऐसा नगण्य नहीं है कि उनके परिवार के विषय में कुछ कहने-सुनने पर उसे भुलाया जा सके। बाबू जी के यहाँ नौकरी करने आने के पहले वह क्वीन्स स्कूल की तीसरी क्लास में पढता था। वहाँ पढते-पढते ऐसे लड़कों की सगत हुई पढ़ना-लिखना सब चौपट हो गया और सिनेमा की बुरी तरह चाट पड़ गई। सिनेमा के मैटिनी (दिन के) शो देखने के वास्ते स्कूल से भागने लगा। टिकेट के वास्ते पैसों की जरूरत पडी, जब तक किताबें रहीं, उन्हें वेचकर काम निकाला, जब वह भी समाप्त हो गईं तो हाथ बहकने लगा।

चुन्नीलाल का बाप मोटर का अच्छा मिस्त्री था, मज़े में खाता कमाता। जाति और आमदनी दोनों ही को ध्यान में रखते हुए वह निम्न श्रेणी में ही आता था, पर था उन लोगों में जो अपने को भी कुछ गिनते हैं, साथ ही उसे बहुत से बड़े आदमियों के कृपापात्र (जिसे वह मित्रता कहता था) होने का भी दावा था, जिसमें से बाबू ब्रजनाथ भी एक थे। जब चुन्नीलाल का रंग-ढंग उसने बिगड़ते हुए देखा, तो वह

बडा चिन्तित हुआ। वह सोचने लगा कि किस प्रकार इस लड़के को किसी ऐसे काम में लगाया जाय जिसमें फँसने पर उसे आवारागर्दी के लिये छुट्टी न मिल पावे। पहले उसने उसे अपने काम में लगाना चाहा लेकिन जब इस काम में उसका मन न लगते देखा, तो बेकार समझ कर यह प्रयत्न करना छोड़ दिया। अब उसकी चिन्ता बढने लगी, इधर चुन्नीलाल को स्कूल से छुट्टी पाने पर और बाप के काम पर चले जाने पर और भी आजादी मिलने लगी। वह और भी तीन-तेरह होने लगा।

एक रोज वह शाम के वक्त अमीनाबाद पार्क में घास पर बैठा हुआ सिर पर हाथ रखे यही सोच रहा था कि बाबू ब्रजनाथ टहलते हुए निकले, उसे इस मुद्रा में बैठे देखकर बोले—"कहो मिस्त्री, क्या सोच रहे हो ?"

मिस्त्री हडबडा कर उठ खड़ा हुआ और बाबू जी के साथ चल दिया। बाबू जी के बहुत पूछने पर उसने चुन्नीलाल का जैसा कुछ रंग ढग था साफ साफ बता दिया और कहने लगा–"कोई तर्कीब ऐसी समझ में नहीं आती जिससे यह पूरी निगरानी में रह सके।"

बाबू जी ने कहा—"अगर बुरा न मानो तो एक बात कहूँ।"

"वाह, बुरा मानने की क्या बात है कहिये, आप जो कुछ कहेंगे मेरी भलाई के लिये कहेंगे।"

बाबू जी के यहाँ उन दिनों नौकर भाग गया था, बोले—"अगर बुरा न समझो तो मेरे यहाँ रख दो।"

"नौकर ?"—मिस्त्री का आत्माभिमान जाग्रत हो आया।

बाबू जी मिस्त्री के मन की भावनाओं को ताड गये, बोले—"नहीं जी, घर के लडकों की तरह रहेगा, जो हम लोग खायेंगे-पहरेंगे, सो वह भी खायेगा, पहरेगा। लड़कों को पढाने मास्टर आता है उससे पढेगा, निगरानी रहेगी, घर के बाहर जा नहीं पायेगा, कुछ दिनों में जरूर सुधर

जायेगा, तब फिर स्कूल में भर्ती करा देना।"

यह सब्ज बाग देख कर मिस्त्री न रुक सका, उसने चुन्नीलाल को बाबू जी के यहाँ भेज दिया। उसे यहाँ भेज कर वह जरा कुछ निर्द्वन्द्व सा हो गया। चुन्नीलाल की माँ बहुत पहले ही मर चुकी थी। लड़के की तरफ से भी चिन्ता मुक्त होने पर शराब की चाट बढ गई। अपनी मजदूरी के अलावा भी रुपये की आवश्यकता पडने लगी और बाबू ब्रजनाथ से वह जब-तब माँगने लगा, इस रूप से चुन्नीलाल की तनख्वाह भी पहुँचने लगी और वह पूरी तौर से बाबू जी के यहाँ नौकर हो गया।

चुन्नीलाल जब पहले बाबू जी के यहाँ आया तो वह सभी की आदर दृष्टि का पात्र बना, क्योंकि वह साधारण नौकरों से बहुत अधिक साफ-सुथरा रहता था, किसी हद तक उसे फैशनेबुल कहा जा सकता था। उसका थोडा बहुत लिख-पढ लेना उसे और सम्मानित पद दिलाये हुए था, वह औरतों की चिट्ठियाँ लिख-पढ देता था और अवकाश के समय ऐसे सुरीले ढंग से उन्हे रामायण पढ कर सुनाता था कि वे उसकी प्रशसा किये बिना न रह सकती थीं। ऐसे गुणी आदमी से कोई ऐसा-वैसा काम कराना किसी को उचित न मालूम होता था। फल स्वरूप चुन्नीलाल घर में नौकर होते हुए भी नौकर के स्तर से काफी ऊँचा होकर रहने लगा।

१४ वर्ष की उम्र होगी काफी काला रग, चौड़ी हड्डी का मजबूत शरीर, चौड़े से मुँह में चमकते हुए सफेद दात, तेल डाल कर अच्छी तरह ऐंछे लम्बे बाल उसके शरीर की विशेषता थे। खूब ही सफेद ट्वील की कमीज, पैजामा या धोती वह पहनता था उसके रहने के तरीके ने उसे मोहल्ले के लड़कों में स्थान दिला दिया। जब हम लोग उसके संसर्ग में आये तो हमे मालूम हुआ कि बुद्धि में भी वह हमसे किसी से घट कर नहीं है और मैंने क्या त्रिलोकी ने भी उसे मित्र में रूप ग्रहण कर लिया।

बाबू जी का हुक्का ठीक करते रहने के बहाने नजदीक खडा रहकर वह शतरञ्ज खेलना सीख गया था। त्रिलोकी बहुत अच्छा खेल लेता था, इसलिये उसकी उससे जोड़ न गॅठती थी, खेल का मज़ा जीतने में है, जहाँ हम हारने लगते हैं तो बाजी उठा देने का जी करने लगता है, खेलने में मन ही नहीं लगता जीतते हों तो चाहे दिन भर खेलते रहें। इसीलिये चुन्नीलाल मेरा शतरञ्ज का गुरू बना और मुझे हरा-हरा कर खेल का मज़ा पाने लगा।

मैं पहले सिनेमा बिल्कुल न देखता था, कुछ तो विवशता इसमें थी यानी देखने ही न पाता था और कुछ सैद्धान्तिकता भी थी अर्थात् मैं सिनेमा देखना अच्छा भी न समझता था और मेरी यह हटधर्मी चुन्नीलाल के आने के बहुत दिनों बाद तक चलती रही। वह अब पहले की तरह बिला नागा तो सिनेमा न देख पाता था, पर प्रत्येक इतवार को रामायण वग़ैरह सुनाकर भाभो को प्रसन्न करके वह मैटिनी शो देखने की इजाजत जरूर ले लेता था। वहाँ से लौटने पर वह मुझे फ़िल्म की कहानी जरूर सुनाता और दृश्यों का ऐसा मनमोहक आश्चर्य-जनक ढग से वर्णन करता कि मेरे मन में भी सिनेमा देखने की इच्छा बलवती हो उठती। उसका प्रयत्न सफल हुआ पर घर से मजूरी मिलना काफी कठिन काम था। इन्हीं दिनों मैं वार्षिक परीक्षा में पोजीशन (अच्छे अक) पाकर उत्तीर्ण हुआ और भैया से सिनेमा देखने जाने का बरदान प्राप्त कर लिया। चुन्नीलाल और त्रिलोकी के साथ मैं पहली वार वह अवाक् चित्रपट देखनें गया। फिर तो मेरे मन में चित्रपट ने ऐसा स्थान बना लिया कि छलबल कौशल से मैं भी सिनेमा देखने पहुँचने लगा। इस ओर भी अपने जमाने के साथ चलने और उन्नति करने का श्रेय मुझे चुन्नीलाल को देना ही पड़ेगा।

यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि चुन्नीलाल बड़ा ही बुद्धिमान,

चालाक और चपट भी था, बहुत सी बातों में अपने मालिकों से भी अधिक, यह मुझे बाद में मालूम हुआ।

गर्मी की सूनसान दोपहर थी, मेरा किसी काम में मन न लगता था, सोचा त्रिलोकी या चुन्नीलाल कोई हो तो बुला कर कुछ खेलूँ। निःसकोच दरवाजा खोल कर अन्दर घुस गया। नीचे के बैठक में तख़्त पर बच्चे सो रहे थे, और घर में कहीं कोई न था। मैं एक-एक कमरा देखता हुआ ऊपर पहुँचा, और सब कमरे बन्द थे, किनारे की एक कोठरी का दरवाजा अन्दर से बन्द था। उसके अन्दर मुझे कुछ फुस-फुसाहट की आवाज सुनाई दी। जाने मेरी क्या समझ में आया कि जोर से दरवाजा भड़भड़ाने लगा।

आखिरकार दरवाज़ा खुला तो उसमें से निकला चुन्नीलाल, बदतमीजी से दात निकालता हुआ और त्रिलोकी की १२ वर्षीया बहन चन्दो सकपकाई हुई सी, अस्तव्यस्त, रंग उड़ा हुआ, दरवाज़ा खुलते ही भाग कर दूसरे कमरे में जा छिपी। मेरे सिर की नसें फटने सी लगी। चुन्नीलाल से घर वालों के विषय में पूछा तो मालूम हुआ कि बुआ तो कई रोज से रिश्तेदारी में आगरे गई हुई हैं, बाबू जी और राजू त्रिलोकी एक दावत में दस बजे गये थे. शाम तक लौटेंगे और भाभो अपने विश्वासपात्र नौकर पर बच्चों के साथ समझदार होती हुई चन्दो को भी छोड़कर किसी स्यापे (खत्रियों में किसी के मर जाने पर कुछ दिन स्त्रिया स्मृति स्वरूप बैठती हैं, व्यवहारी स्त्रिया भी उसमे अवश्य जाती हैं) में गई हुई हैं और इस कारण चुन्नीलाल अपनी स्वामिभक्ति को चरम-सीमा पर पहुँचाये हुए है। मैं उल्टे पैरों घर लौट आया, न चुन्नीलाल को कुछ बुरा भला कह सका, न चन्दो को।

उन दिनों मैं नवें दर्जे में पढ़ता था। भला हो भैया का (यह अब समझ में आता है) उन्होंने मुझे कसरत की आदत डलवा दी। लगभग डेढ़ साल मुझे कसरत करते हो गया था; दो-तीन महीने से गनेश-

गङ्ग के अखाड़े में ज़ोर करने भी जाता था। फल स्वरूप वासना और तामसिकता मेरे पास काफी देर में आई। उसी रोज शाम को अखाड़े से लौटने के बाद मैं पार्क में बैठा सोच रहा था कि इस मामले मे मेरा क्या कर्तव्य है, त्रिलोकी से कहूँ या भाभी से, इसी समय चुन्नीलाल आया। घर के छोटे बच्चे प्रकाश और उमा उसके साथ थे, उन्हें उसने खेल में लगा दिया और मेरे पास आकर खुशामद करने लगा। "देखो भैया, किसी से कहना नहीं वर्ना मै कहीं का न रहूँगा। मैं तो मैं, चन्दो को बहुत डॉट-मार पड़ेगी, मेरे ऊपर मेहरबानी करो।"—इसी तरह वह कहता रहा, मैं कुछ न बोला। ऐसे समय पर चुप रहना कितनी घबराहट दोषी के मन में पैदा कर देता है, यह मैं भली प्रकार समझता था। चुन्नीलाल भी घबरा गया, उसने मेरे पैर पकड़ लिये। मैंने कहा—"अच्छा मैं किसी से न कहूँगा।"

अभी मैं शर्त लगाने ही जा रहा था, यानी यह कि फिर वह ऐसी वेहूदगी न करे कि वह खुल पडा, हँस-हँसकर बातें करने लगा। कहने लगा—"एक बात कहूँ, अगर नाराज न हो तो।"

मैंने कहा—"कहो क्या बात है ?"

"चन्दो ने तुम्हें कल दोपहर को बुलाया है, कल भी कोई न रहेगा।"

मैं एकदम सन्न रह गया। कसरत करने के कारण मैं अपने स्वास्थ्य को बडी मूल्यवान वस्तु समझता था और इन सब बातों को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता था। मैं एकदम बिगड़ उठा, कहा—"अच्छा तुम मुझे भी ऐसा समझते हो, अब मैं बाबूजी से ज़रूर तुम्हारी शिकायत करूँगा।"—मैं वास्तव में क्रोधित हो गया था, जब उसने बहुत ही अनुनय विनय की, तब माना। यद्यपि इस प्रस्ताव को अस्वीकार करने के लिये वह समय भी आया जब मैंने अपने आप को धिक्कारा। यानी जब कि समय और अवस्था को पाकर यह इच्छाएँ

भी बलवती हो उठीं और उन्हें पूर्ण करने को मन व्याकुल हो उठा तब पिछले उस कार्य को मैंने मूर्खता ही पुकारा। यद्यपि आज फिर उसे सुबुद्धि ही समझता हूँ।

उस दिन मैं बराबर यही सोचता रहा, यह कैसा विषम व्यापार है। त्रिलोकी राजू दूसरों के यहाँ डोरे डालते हैं तो उनकी भी इज्ज़त कितनी सस्ती बिकती है और वह भी किसके हाथ! समाज के कठोर नियन्त्रण, बड़ों को ऊँचे महलों के पर्दे के अन्दर यह क्या हो रहा है। चुन्नीलाल कोई अनोखा थोड़े ही है, उसके ऐसे सैकड़ों हज़ारों कुचरित्र और चालाक नौकर रईसों के घरों में घुसे हुए हैं और अनेकों चन्दो के समान सुकुमार भोली-भाली सुन्दरियों का कौमार्य नष्ट कर रहे हैं। इन बालिकाओं के अविभावक ससार की बुद्धि में से तीन चौथियाई का अपने को हकदार समझते हुए आँखें मूँदे चले जाते हैं और उनकी तभी आँखें खुल पाती हैं जब कि किसी बड़ी दुर्घटना की ठोकर उन्हें लगती है। अर्थात् लडकी उन्हें ब्याह करने के झझट और ज़िम्मेदारी से मुक्त करके घरवालों से माया-मोह छोडकर किसी दिन अदृश्य हो जाती हैं अथवा लडकी का ब्याह करने के पहले ही उसके पिता को खबर मिलती है कि वे नाना का सम्मानित पद प्राप्त करने जा रहे हैं। तब तो बड़ी बम-चक मचती है और इन महानुभावों को अपनी अक्ल पर से विश्वास उठने लगता है, पर अक्सर ऐसा भी होता है कि इस तरह की कोई असाधारण घटना नहीं होती और यह पाप कर्म अबाध्य . से चलता रहता है। और यही बालिकाएँ जाकर घर की रानी ^ साध्वी की पदवी पाती हैं और इन पिछली घटनाओं को म .ी हुई उन्हें भुला देती हैं। उनके माता-पिता ि भावक समझते हुए जीवन बिता देते हैं।

` पीछे यह पापाचार जो चलता चला जा रहा है , है? अनुभवहीन पिताओं पर, अशिक्षिता

माताओं पर, जो यह नहीं जानते कि अपने लड़के-लड़कियों को किससे मिलने दें और किससे नहीं। किसी के इतने स्वतत्र विचार हैं कि वे यही समझ लेते हैं कि उनके छोटे उम्र के लड़की-लड़के भी अपना बुरा-भला समझते हैं और धोखा नहीं खा सकते। पश्चिमी सभ्यता की उन्नति का कारण स्त्री पुरुष के स्वतन्त्र मिलने जुलने को बताते हैं। जब कि दूसरे के इतने दक़ियानूसी विचार हैं कि वे अपने लड़के-लड़कियों को बिल्कुल डब्बे में ही बन्द करके रखना चाहते हैं, फल यह होता है कि जरा-सी भी दराज पाते ही निकल भागते हैं और अनुभवहीन होने के कारण ठोकर खाकर गिर जाते हैं। एक पिता अपनी सन्तान को फैशन और सजावट के सब सामान देता है, वह गरिष्ट, मसालेदार और तेज भोजन देता है जो उनमें तामसी वृत्तियों को जाग्रत कर देता है, उन्हें नासमझ समझकर उनके सामने ऐसे काम करता है जिनका अनुकरण करके वे कुमार्गगामी बन जाते हैं। दूसरा उन्हें ऐसे कड़े नियन्त्रणों में रखता है कि वे ससारी जीव अपने आपको उसके योग्य नहीं पाते और संसार के उन छोटे-मोटे सुखों को उठाने के लिये, जिन्हें सर्वसाधारण को उठाते हुए देखते हैं, वे अपने आप को सस्ते दामों बेंच देते हैं।

चन्दो प्रथम श्रेणी में आती थी, लाड़-प्यार, फैशन अनियन्त्रित जीवन ने उसे बिगाड़ दिया था। उनके घर में अँग्रेजियत न थी, पर स्वतन्त्रता और अल्हड़पन लगभग सभी लोगों में था और इसी का फल इस रूप में प्रगट हुआ था।

—०—

७

राजू फर्स्ट इयर में फ़ेल हुए थे और त्रिलोकी नवें में दूसरी बार। दोनों ही दो-चार रोज से गुमशुम नज़र आते थे। घरवालों को भी इन लोगों के बार-बार फेल होने की गुरुता का शायद कुछ इस बार अनुभव

तमाशबीन लोग वाह वाह कर उठे। यह रईस हैं—सच्चे रईस, पैसा हुआ और ख़र्च न करना जाना तो क्या फ़ायदा! रईस वह है जो ख़ुद खाए और चार को खिलाए। लाखों की दौलत गडी रही और सारी ज़िन्दगी झींकते रहें ऐसा पैसा जैसा हुआ, तैसा न हुआ।

इन ब्याहों के चार-छः महीने बाद ही मैंने बाबू जी का हाथ कुछ रुकता हुआ देखा। साफ मालूम पड़ने लगा कि ख़र्च की कुछ तङ्गी मालूम पड़ रही है। त्रिलोकी से मेरी काफी बेतकल्लुफी हो गई थी। एक दिन वह मुझ से बोला—"इस जाड़े में मालूम होता है, गरम सूट न बन पायेंगे।"

"आख़िर क्यों?" मैंने पूछा।

"अबकी ऐसा ही मालूम पड़ता है।"

"आख़िर बात क्या है?"

"बाबू जी के पास आजकल रुपये की कमी है, मागने से 'नहीं' कह देते हैं। बुआ से कहते थे कि अबकी शायद नये कपड़े न बन सकें क्योंकि राय साहब के यहाँ से ब्याज नहीं मिल पा रहा है।"

लेकिन कुछ ही दिन में मैंने देखा कि घर की दशा फिर पहले की सी दिखलाई पड़ने लगी। सौदे वालों को फिर रोका जाने लगा और राजू, त्रिलोकी फिर ठाट-बाट से दिखलाई पड़ने लगे। बाबू जी नई अचकन में दिखलाई दिये और राजू त्रिलोकी नये सूट मे।

मैंने त्रिलोकी से पूछा—"तुम तो कहते थे नया सूट अब की न बन सकेगा, यह तो बन गया। क्या राय साहब के यहाँ से ब्याज आने लगा?"

"नहीं उनके यहाँ से तो ब्याज अभी नहीं आता!"

"तब फिर?"

"बतला ही दूं?"

"अगर कोई गुप्त बात हो, तो रहने दो?"

"अरे तुमसे क्या छिपाऊँ, बाबूजी ने कर्ज़ लिया है, उसी से यह सब हुआ है।"

"कर्ज़ लिया है! कर्ज़ लेना तो अच्छा नहीं होता।"

"महाजनी में इसके बिना काम नहीं चलता। किसी काम में रुपया फँसा हुआ है, ज़रूरत पड गई तो लेना ही पड़ेगा। सभी ऐसा करते हैं।"

"हाँ, करते तो ज़रूर हैं, पर फिर भी यह अच्छा नहीं है।"

"उसमें क्या है। इधर राय साहब के यहाँ से इकट्ठा रुपया मिला, लगे हाथों कर्ज़ चुका दिया जायगा। आजकल उनके यहाँ से ब्याज न लें तो काम भी तो न चले। मजबूरी में सब कुछ करना पड़ता है।"

"यह तो ठीक है, पर मजबूरी में भी क़र्ज़ ले तो कम से कम ले। खूब कर्ज लेना और उडाना ठीक नहीं होता; क्योंकि वह बढता ही चला जाता है और अगर किसी कारण से आदमी ऐसी परिस्थिति में पड गया कि वह कर्ज न चुका सका, तो उसे बड़ी बदनामी और परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं।"

"तो कर्ज़ लेकर उड़ाता कौन है? हमारे यहा जैसा ख़र्च होता था, उससे आजकल कुछ ज़्यादा थोड़े ही होता है। अब बताओ, अगर हमारे नये सूट न बनते तो लोग यह कहते कि नहीं फिर सब पुराने ही सूट पहन रहे हैं, इस सीज़न (मौसम) में इन्होंने एक भी सूट नहीं बनवाया। बताओ कितने शर्म की बात होती। खाने-पीने में हम लोगों का ख़र्च कोई बढा हुआ नहीं है। जैसे चार-छः तरकारियाँ पहले खाते थे, वैसे अब खाते हैं। शाम को मलाई या रबड़ी खाते थे, वही अब भी खाते हैं, तब बताओ कौन सा खर्च बढ़ा दिया।"

उसकी बातें सुनकर मुझे हँसी आ गई।

"हँसते क्यों हो?" उसने पूछा।

"भाई साहब।" मैंने कहा "नये-नये सूट, चार-चार छै-छै तरकारियाँ

और मलाई-रबड़ी आदमी की जरूरत की चीज़ें नहीं हैं। क्या मज़े की बात है, इतना अच्छा तो खाते-पहनते हैं, फिर भी कहते हैं, बताओ हमारा क्या ख़र्च बढा हुआ है ?"

"तुम यह बात नहीं समझते, ज़रूरत की चीज और ऐश की चीज क्या है और क्या नहीं है, इन सब का एक ही निश्चित रूप सब के लिये नहीं बताया जा सकता है। आदमी-आदमी की आर्थिक स्थिति के अनुसार उनमें अन्तर होता रहता है। सौ रुपये किराये की एक कोठी दो ढाई सौ रुपये की आमदनी वाले के लिये एक ऐश की चीज होगी, एक मज़दूर का उसे लेने की बात सोचना ही पागलपन करना होगा। पर जिस व्यक्ति की आमदनी हजार दो हज़ार है, अगर वह अच्छी कोठी लेकर उसमें न रहेगा, कोई छोटा सा मकान लेकर उसमें रहेगा तो वह अपनी बराबरी वालों की आखों मे गिर जायगा और उसकी बदनामी हो जायगी। यही बात खाने-पीने और पहनने के विषय में भी है। हर आदमी अपनी स्थिति के अनुसार खाता पहनता है।"

"पर अगर स्थिति में परिवर्तन हो तो खर्च मे भी परिवर्तन होना चाहिये कि नहीं।"

"तुम तो बडी जल्दी आगे की सोचने लगते हो। हमारी स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है ? साल-छः महीने ब्याज न मिलने से क्या हुआ, सब इकट्ठा मिल भी तो जायगा।"

आगे बात-चीत करना मैंने व्यर्थ समझा। धन ने इन लोगों के विचारों को कितना ऊँचा चढ़ा रखा है, यही मै सोचता रहा।

८

शराब-कबाब ने किसे नहीं ले डाला। न जाने कितने लोग बोतलों के इस बन्द पानी में ऐसे डूबे कि फिर उभर ही न सके। इस पानी में छिपी आग ने सैकड़ों घरों को ख़ाक़ कर दिया। यही हाल राय साहब के घर का हुआ। उन्हें इन चीजों की चाट तो थी, पर लत न थी। उनके छोटे भाई सम्मन साहब इन चीज़ों के बिना ज़िन्दगी को ही बेकार समझते थे, सच तो यह है कि वे उस दशा को पहुँच गये थे कि इनके बिना उनका गुजर ही न हो सकता। अच्छी तरह से खाने-पीने, लुटाने में तब पूर्ण सुविधा हो सकती थी जब बड़े भाई साहब भी शामिल हो जायँ, इसलिये सम्मन साहब ने उन्हें भी घसीटना शुरू किया और वे भी कुछ छोटे भाई के स्नेहवश और कुछ अपनी तबियत से लाचार होकर इस बहार में वह चले। अब क्या था, जायदाद बर्बाद होने लगी, क़र्ज़ पर कर्ज होने लगा, पर ऐश और ऐयाशी दोनों ही बढती गई। बाबू ब्रजनाथ से जब रुपया लिया था तब काफी ख़स्ता हाल हो चुके थे, पर बाबू ब्रजनाथ न समझ सके थे। उन्होंने उनकी बड़ी सी हवेली ही देखी थी, जमींदारी के ही विषय में सुना था, यह न जानता था कि कर्ज इस हद तक बढा हुआ है। बड़ा खड़ा हुआ पेड़ वे देख सके थे, उसमें जो घुन लगा हुआ है वह उन्होंने न जान पाया था, और एक दिन जब वह पेड गिर पड़ा तो वह आँखें फाड-फाड कर देखते ही रह गए कि यह क्या हुआ।

राय साहब ने मवैया में अपने लडके लल्लू के नाम से एक मकान बनवाया और सपरिवार उसमें चल दिये। उन्होंने टाट उलट दिया था, दिवाले की दरख़ास्त दे दी थी। मकान पर जिस रोज कुड़की आने को थी उसके एक रोज पहले उसमें कुछ न रह गया था।

राय साहब खुद तो बर्बाद हुए ही बाबू ब्रजनाथ की तक़दीर भी वे अपने साथ लेते गए। उनकी जो कुछ लेई पूँजी थी वही पचास हज़ार

रुपये थी, उन्हें जिस समय मालूम हुआ कि रुपया डूब गया, राय साहब की नियत बदल गई तो उनकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया।

फिर हिम्मत की, वकील बैरिस्टरों के दरवाज़े खटखटाये, अधिक से अधिक सूद देकर, घर का गहना बेचकर दीवानी की दीवाना कर देने-वाली कोर्ट फीस के लिए और मुक़दमे के खर्च के लिये रुपया जुटाया। अब उन्हें एक यही आशा रह गई थी कि किसी तरह मुक़दमे में सफलता मिले तो फिर वही दिन लौटे—ठाटदार कपडोंवाले, मलाई के सिकोरों वाले, मिठाई के दोनोंवाले सुनहले चमचम दिन। इस कारण वे मुक़दमे के पीछे पागल से रहते थे। इधर एक नया परिवर्तन मैंने उसमें देखा था, वे सवेरे उठने लगे थे और नहा धोकर काफी देर तक बिला नागा पूजा करते थे। ग्यारह बजे तक वे खा पीकर कचेहरी चले जाते। पाँच बजे तक वे कचेहरी से चलते तो घर न आते, नाश्ते पानी की आवश्यकता अब उन्हें मालूम ही न होती थी, सीधे कभी वकील के यहाँ चले जाते, कभी कचेहरी के हाकिमों के यहाँ। लोग उनसे तग आगए थे। घर में होते, उनकी आवाजें सुनते, कहला देते—कह दो घर में नहीं हैं। उनको सामने से आते देखते, मुँह फेर कर चले जाते या कतरा जाते। बाबूजी यह सब देखते-सुनते और समझते थे, पर कभी शिकायत का एक शब्द भी मुँह से न निकालते, जानते थे इससे कोई फ़ायदा नहीं। अब उनका वह वक्त नहीं रहा कि कोई उनकी बात सुन सके, सम्भव है कि एकदम ही बिगड उठे और अब तक जो कुछ काम निकलता है वह भी निकलना बन्द हो जाय। इसीलिये वह जा-बेजा भी सुनते और बर्दाश्त करते थे। उनके स्वभाव में जो रईसों की सी स्वाभाविक अकड़ पहले थी, उसका अब कहीं पता भी न चलता था।

उन्होने बड़ी शीघ्र अपने आपको नवीन परिस्थियों के अनुकूल बना

लिया था।

घर की दशा दिन पर दिन बिगड़ती चली जा रही थी। जब तक बाजार में और लोगों की जान में बाबू जी की साख रही तब तक उन्हें उधार मिलता रहा, पर अब सब लोगों को असलियत का पता चल गया था। अब तो बस दिन भर तगादेवाले आया करते और बाबू जी उनसे मुँह छिपाया करते। कभी सामना हो ही जाता तो बड़ी शिष्टता और सभ्यता से बात-चीत करते। सामने घर होने के कारण मैं भी दिन भर यह देखा करता था।

"बाबू ब्रजनाथ!"

चुन्नीलाल निकला—"वह हैं नहीं, साहब।"

"अरे भाई हमें न बनाओ, अभी तो हमने उन्हें घर में घुसते हुए देखा है। उन्हें इधर आते देखकर ही मैं पीछे-पीछे चला आया था। जाओ, उन्हें बुलाओ, साल भर हुआ तब हमारी दुकान से सौदा आया था, कब तक सब्र किये बैठा रहूँ। जाओ बुलाओ।"

"जब साहब हैं ही नहीं तो कहाँ से बुलाऊँ।

"हैं कैसे नहीं, ऐसे तुम किसी की आँखों में धूल झोंक दोगे। बाबू ब्रजनाथ, बाबू ब्रजनाथ।"

बाबू ब्रजनाथ ने देखा यह मर्दूद यों ही वापिस होजाने वाला नहीं है अभी चिल्लाकर मोहल्ले भर को इकट्ठा कर लेगा तो मुश्किल होगी—यही सोचकर निकल आए। "अक्खाह सेठ जी हैं, जैरामजी की, आइये, आइये तशरीफ रखिये, बहुत दिनों में मुलाक़ात हुई आप से, कहिए मिजाज तो अच्छा है आपका?"

वही छोटे-मोटे बनिये, जो बाबू जी का मुँह ताका करते थे और यह सोचकर उनकी खुशामद किया करते थे कि ये अकेले दुकान के ग्राहक हो जायँगे तो रोटी का सहारा हो जायगा, अब उनसे उद्दण्डता से बातें करते थे और उनका अपमान करने में भी न

वह वाक्य बाणों से घर भर का कलेजा छेद डालती, कहती—"जब घर में खिलाने-पिलाने का ठिकाना नहीं था तो ब्याह करने की क्या जल्दी पड़ी थी। बाप-माँ भी एक ही दुश्मन निकले, जिनको दुनिया भर में और कोई घर ही नहीं जुड़ा, उठा के इस भाड़ मे झोंक दिया। हायरी तक़दीर, मैं नाजों की पाली हुई इसी लायक़ थी।"

बाबू जी के हृदय में यह शब्द तीर की तरह लगते, पर वह अधिकतर सब्र से काम लेते। सोचते, बुरे दिन हैं तो यह भी चार बातें सुना लेती है वर्ना क्या मेरा पद इसी योग्य था। ख़ैर दबी बिल्ली तो चूहे से कान कटायेगी ही। बुआ से कभी-कभी यह बातें सहन न होती और वे बहू से उलझ पड़तीं, पर उन्हें मुँह की खानी पड़ती। भाभो यह बातें सुनतीं और चुप-चाप आँसू बहाती रहतीं। बहू की इन बातो का सबसे अधिक प्रभाव राजू के हृदय पर पड़ता। वह सुनता और तिलमिला उठता। सोचता कोई ऐसी तर्कीब निकलती कि मुझे इतना धन मिल जाता जो ख़र्च किए न बनता। वह अपनी स्त्री के रूप गुण पर मोहित था, इसलिये कोई कड़ी बात कह कर उसे चुप करने की बात उसके मन ही में न आती थी। सोचता, इस मामले में हम लोगों की कमज़ोरी और गलती है, हमें चुप ही रहना चाहिये।

राजू का एक बड़ा घनिष्ट मित्र था, प्रताप। वह आर्ट स्कूल से पोस्टर प्रिंटिंग ड्राफ्ट का पाँच साल का कोर्स पास था। उसके पास एक अच्छी कला थी, जरा से भी प्रयत्न से उसे अच्छी ख़ासी आमदनी हो सकती थी। पर न वह सौ पचास की कोई नौकरी करना चाहता था न ऐसी आमदनी का कोई काम वह चाहता था वह ऐसा कोई काम करे जिससे उसे हज़ारों की आमदनी होने लगे और वह अपनी बुढिया माँ को और उसे दयनीय समझने वाले लोगों को आश्चर्यान्वित कर दे। कुछ दिन से राजू की और उसकी विचार-धारा [illegible] मिलने लगी थी, इसलिये दोनों का साथ-साथ बैठना-उठना

बहुत बढ़ गया। दोनों मिलकर कोई ऐसी तर्कीब ढूढ निकालना चाहते थे जिससे उनके पास एकदम से ख़ूब दौलत हो जांय।

राजू अब सेकेन्ड इयर में पढते थे, एक साल फ़ेल हो चुके थे और कुछ अपने पास होने की आशा भी छोड़ चुके थे, क्योंकि पढने में उनका जी न लगता था। फिर भी कालिज जाते थे, वहाँ से इधर-उधर की पढने की किताबें लाते और पढा करते। इन्हीं दिनों उन्हें स्वामी सत्यदेव की पुस्तकें मिलीं—मेरी कैलाशयात्रा, मनुष्य के अधिकार, अमेरिका पथ-प्रदर्शक और अमेरिका के विद्यार्थी। इन पुस्तकों में स्वामी जी ने व्यक्ति के स्वावलम्बी होने पर बहुत ज़ोर दिया है और स्वावलम्बन के द्वारा उन्हें जो सफलता मिली है उसके बहुत अच्छे उदाहरण भी दिये हैं। उन्होंने लिखा है कि किस प्रकार बिना पास में अधिक पैसा हुये भी कोई व्यक्ति अमेरिका पहुँच सकता है और यदि इस ओर उसकी वृत्ति हो तो हजारों-लाखों की दौलत इकट्ठी कर सकता है, क्योंकि अमेरिका एक धनी देश है, जहाँ नौकरी व्यापार सभी में लाभ है, जहाँ साधारण होटलों में बर्तन माँजने वाले मज़दूर तक सात-आठ रुपया प्रति दिन मजदूरी पाते हैं। अमेरिका पथ प्रदर्शक में वह तरीके साफ लिखे हुये थे जिनसे कोई भी व्यक्ति आसानी से नौकरी चाकरी करता हुआ अमेरिका पहुँच सकता है, वह कहाँ ठहरे, कहाँ खाय, क्या काम करे, सबका पूरा ब्योरा था।

राजू ने यह किताबें पढीं, प्रताप को पढवाईं तो दोनों के दिल बल्लियों उछलने लगे, क्योंकि अब उन्हें एक रास्ता दिखलाई पड़ रहा था जिससे वह तरक्की कर सकते थे। राजू इधर हमारे बड़े भैया से ख़ूब बातें किया करते थे। एक दिन उन्होंने भैया को भी 'अमेरिका पथ प्रदर्शक' दिखलाई और बोले देखिये, "इस तरीके से अमेरिका जाना बिल्कुल आसान है या नहीं।"

भैया ने किताब पढ़ी और बोले—"उस आदमी के लिये आसान

है जिसमें ठीक वैसे ही गुण हों, जैसे स्वामी जी में थे। इतनी हिम्मत निडरता और अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति सब में नहीं हो सकती।"

"किसी-किसी मे शायद हो भी सकती हो।"

"मेरी समझ में कठिन है।"

"आप तो बड़े निराशावादी हैं।"

"और आप ज़रूरत से ज्यादा आशावादी।"

अब राजू और प्रताप की बैठक और देर-देर तक होने लगी, ऐसा मालूम होता था जैसे किसी बहुत बड़े कार्य के लिये वे सलाह मशिवरा कर रहे हैं। वे जितनी बातें करते, फुस-फूसा कर करते और रात में जाने कितनी देर तक बैठे रहते। प्रताप कभी घर जाता और कभी राजू के यहाँ ही सो जाता।

× × ×

एक दिन त्रिलोकी के घर में घबराहट फैल गई। दो-तीन रोज हुए राजू यह कहकर बाहर गए कि वे एक मैच खेलने के लिये कानपुर जा रहे हैं। दूसरे दिन आने के लिए कह गए थे पर जब तीसरे दिन भी वे न आए तो कानपुर में राजू के चाचा के यहाँ जहाँ वे ठहरते थे, टेलीफोन किया गया। उत्तर मिला कि वे यहाँ, आए ही नहीं। शाम तक उनका फिर टेलीफोन आया कि जहाँ-जहाँ वे मैच खेलने आते थे, उन सब जगहों मे पता लगाया गया, वे यहाँ आए ही नही। इधर यह सोचकर कि मैच खेलने तो ग्यारह लड़के गए होंगे, उनकी टीम के अन्य खिलाडियों के यहाँ पुछवाया गया। मालूम हुआ कि उन लोगों को इस मैच के विषय में कुछ पता ही नहीं है, सिर्फ प्रताप घर से ग़ायब था और वह भी वही कह कर गया था जो राजू कहकर गए थे।

अब तो घर में कोहराम मच गया। राजू की बहू इन दिनों गर्भवती थी। वह चिल्ला-चिल्लाकर रोती थी—"हाय, मुझे ऐसी दशा में छोड़कर कहाँ चले गये।" दो दिन तक वह ऐसे ही चिल्लाती रही, न मुँह में पानी डाला, न अन्न का एक दाना। अब तक लोगों को उससे सहानुभूति थी, अब वे उसके लिये चिन्तित हो उठे। उसका रोना-चीख़ना बन्द हुआ पर वह दिन भर ठंडी-ठडी साँसें लिया करती—हाय राम! हे भगवान्, मैं क्या करूँ!

सब लोग उसे समझाते, बाबूजी कहते—मेरे जीते जी तू किस बात की फ़िक्र करती है, पर वह किसी की न सुनती। न खाती, न पीती।

बुआ का शोक प्रदर्शन सब से अधिक सफल होता था, यद्यपि उस प्रदर्शन में कुछ वास्तविकता भी थी, क्योंकि उन्हें इन लड़कों से काफ़ी आशा थी। वे समझती थीं कि वे उनकी ज़िन्दगी पार लगावेंगे। इसी कारण वे उनसे सच्चा प्रेम करती थीं। वे चिल्ला-चिल्ला कर रोती थीं—हाय मेरी बुढापे की लकड़ी कहाँ गई? हाय मेरी नाव का पार लगाने वाला कहाँ गया।

मोहल्ले की स्त्रियाँ उन्हें समझाती-बुझातीं तो वे कुछ प्रकृतिस्थ हो जातीं, फिर जिनसे उनकी बहुत ही घनिष्ठता थी उनसे दबी ज़बान से राजू की बहू की ओर इशारा करके कहतीं—"यह सब इसी का किया हुआ है। यही रोज़-रोज़ कहती थी—जब घर में खिलाने पिलाने को न था तो ब्याह करके क्यों बैठा दिया। आख़िर आदमी ठहरा, कहाँ तक सुनता, चल दिया जहाँ उसके सींग समाए।"

जिस व्यक्ति को देखकर हृदय में सब से अधिक करुणा उत्पन्न होती थी, वह भाभी थीं। वे रोतीं, चीख़तीं, चिल्लातीं, आँसू बहाती न दिखलाई देती थीं, फिर भी मूर्तिमान शोक दिखलाई पड़ता था। उनका मुख सूखे काठ की तरह हो गया था, सफेद जीवन और रस हीन। उन्हें देखकर कुछ अनुमान होता था कि माँ अपने पुत्र के लिये कितना दुखी

हो सकती है।

बेचारे बाबूजी स्वयं बहुत चिन्तित और अधीर थे, पर यही सोचकर धैर्य धारण करते थे कि यदि मैं ही घबड़ाने लगूँगा तो इन लोगों का क्या हाल होगा। उन्हें अब राजू को देखकर ही कुछ उम्मीद बँधने लगी थी कि वह अब कुछ काम-काज करेगा तो घर की चिन्ता से वह मुक्त होंगे। उसी राजू के इस तरह ग़ायब हो जाने से उनके हृदय को बड़ा धक्का पहुँचा था।

हमारे भैया ड्यूटी पर अम्बाले गए हुए थे, चौथे दिन वे वहाँ से लौटे तो उन्हें भी यह हाल मालूम हुआ। उन्होंने बाबूजी के पास जाकर बिना किसी हिचक के कहा—"मैं आप से बताता हूँ, वह रंगून गए हैं।"

"क्यों साहब, एकदम रगून क्यों?"

"बात यह है कि उनका इरादा अमेरिका जाने का है और जिस किताब को पढकर उन्होंने वहाँ जाना निश्चय किया है उसमें यही बताया गया है कि आदमी रगून में जाकर किस प्रकार सिक्खों के गुरुद्वारे में ठहरे और वहाँ किस प्रकार प्रयत्न करे, जिससे वह सीधा अमेरिका पहुँच सके।"

बाबूजी को बात कुछ जँची नहीं, यद्यपि उन्होंने कहा कि अगर ज़रूरत पड़े तो वे रगून जाने को तैयार हैं। घर में इस विषय में सलाह मश्विरा हुआ और यह तय पाया गया कि जब पंडित जी का इतना पक्का ख़्याल है तो रंगून जाकर पता लगाने में क्या हर्ज है। बाबूजी का दूसरे दिन रंगून जाना निश्चय हो गया।

उसी दिन रंगून से राजू का पत्र आया, उन्होंने वहाँ अपना नाम आर. बी. सिंग रखा था और पोस्ट मास्टर हेड पोस्ट आफिस रगून के मार्फत अपना पता दिया था। उन्होंने लिखा था—"मेरे घर से चले आने से आप लोगों को अवश्य ही बहुत दुख हुआ होगा,

बुरा भी मालूम होता होगा, पर मेरे घर से निकलने का उद्देश्य बुरा नहीं है, बल्कि बहुत अच्छा और बहुत ऊँचा है। मैं अपने जीवन में कुछ होना और कुछ कर दिखाना चाहता हूँ। जो मार्ग मैंने सोचा है वह कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं। मुझे अपनी सफलता की पूरी आशा है। आप लोग यदि कुछ दिन धैर्य से काम लेंगे तो मुझे सुखी पाकर स्वय भी सुख के भागी होंगे। कृपया यहाँ आने का या मुझे लौटालने का प्रयत्न किसी प्रकार भी न करें, अन्यथा मैं अपनी जान पर खेल जाऊँगा और तब आप लोगों को पछताना पड़ेगा।"

राजू के पत्र की अन्तिम पंक्तियों को पढ कर बाबू जी को थोड़ी-सी हिचकिचाहट हुई कि उन्हें लेने जाना चाहिये या नहीं, पर लोगों की यही राय पड़ी कि जाना अवश्य चाहिये। इन धमकियों से डरने की जरूरत नहीं है।

बाबू जी उसी दिन रगून के लिये रवाना हो गए। राजू का समाचार मिलने से घर के लोगों को थोड़ा बहुत धैर्य बँधा था, पर अभी भी शंका थी—कहीं ऐसा न हो कि राजू घर न लौटे, पर दूसरी तरफ मन कहता नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जिस लड़के ने कभी अपने पिता की बात का उत्तर तक नहीं दिया, वह ऐसा नहीं करेगा। देखो, क्या होता है।

इन दिनों प्रताप की माँ रोज राजू के घर समाचार लेने आती थी। वह अपने लड़के को बहुत सीधा समझती थी और उसका ख्याल था कि राजू ही उसे बहका कर ले गया है और मोहल्लेवालों से अपने इन विचारों को प्रगट किये बिना वह न जाती थी। इधर बुआ का ख्याल था कि उनका राजू तो इतना सीधा लड़का है कि अगर प्रताप न होता तो वह कभी इस तरह न जाता। वे अपने इन विचारों को प्रताप की माँ के सामने प्रगट करने में भी न हिचकिचाती थीं। एक दिन बात यहाँ तक बढ़ी कि दोनों में थोड़ी बहुत कहा सुनी हो गई।

लगभग पन्द्रह दिन पश्चात् बाबू जी राजू और प्रताप सहित लौटे। बाबू जी बड़े ही प्रसन्न थे और राजू और प्रताप बड़े झेंपे हुए। जो कोई आता इन दोनों पर दो चार छींटे ज़रूर कसता—कहो भाई अमेरिका जा रहे थे। क्या 'फ़ोर्ड' को साझेदार की ज़रूरत थी या 'राक फेलर' को? दूसरे साहब ने फर्माया—मेरा तो ख्याल कुछ और ही है। वह क्या? लोगों ने पूछा—"शायद प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्ट की कोई लड़की क्वाँरी थी, आप उसी का पाणि ग्रहण करने जा रहे थे।

राजू कुछ ऐसे सीधे न थे और प्रताप तो बड़ा बोलने वाला था, पर इस वक्त चारों तरफ से वार हो रहे थे, और अपना पक्ष कमज़ोर पड़ता था, इसलिये दोनों चुप थे। मन ही मन कुढ़ रहे थे कि व्यर्थ ही में लौटे, देखो सब लोग मिलकर कैसा बना रहे हैं। हम लोगों को मन ही मन निकम्मा और सनकी समझते हैं। ख़ैर, अब क्या हो सकता है, जो सुनना बदा था सो सुनो।

इधर बाबू जी अपनी बात कहते ही न थकते थे। जो आता वही पूछता और वे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक फिर दुहरा जाते। थोड़ी-थोड़ी भैया की भी प्रशंसा करते जाते थे जिन्होंने उन्हें सब समझा दिया था कि कहाँ ठहरें, किस तरह मिलें। इस तरह साहब मैं जहाज पर चढ़ कर रंगून पहुँचा, वहाँ होटल में अपना सामान उल्टा-सीधा डाला और डाकख़ाने के कोने में जाकर जम गया। बैठे-बैठे बड़ी देर हो गई। जाने कितने बर्मी आदमी औरतें 'विन्डो डिलीवरी' के वास्ते (खिड़की पर चिट्ठी लेने) आए। मैं बैठे-बैठे ऊब गया था कि देखा आप दोनों साहबान टहलते हुए आ रहे हैं। मैंने राजू को देखा तो साहब मेरी आँखों में आँसू भर आए। मैं उसी दशा मे जाकर इन दोनों के सामने खड़ा हो गया। इनकी जो मुझपर नज़र पड़ी तो ऐसे चौंके जैसे शेर देख लिया हो। फिर आँखे नीची करके खड़े हो गए। मैं

अपने आप को न रोक सका, इनको सीने से लगा लिया और बड़ी देर तक आँसू बहाता रहा। यह सीन देख कर लोग इकट्ठा होने लगे और पूछताछ करने लगे। पहले तो मेरी तबियत हुई कि ज़रा लोगों को सच्चा वाक़िया सुनाऊँ और इन दोनों भले आदमियों को इनकी भलमसी के लिए publicly (जनता के सामने) लानत-मलामत करूँ, पर फिर कुछ सोच-विचार कर रह गया।

पहली बात जो मैंने इन से कही, वह यह थी कि फलाँ गाड़ी से वापिस चलना है। यह लोग कुछ न बोले न 'हाँ' कहा, न 'न', पर दोनों ही मिलकर सलाह करने की सोचने लगे। इधर मैं यह तय किए हुए था कि इन दोनों को मिलने न दूंगा, यह लाख कोशिश करते और मैं एक न कारगर होने देता। आखिरकार राजू की तो कुछ हिम्मत हुई नहीं, प्रताप बोला "आप हम दोनों को सलाह करने का मौक़ा दें।" मैंने कहा—"हाँ, सलाह होनी चाहिए, साजिश नहीं। अगर सलाह है तो मेरे सामने भी हो सकती है, पर तुम दोनों करना चाहते हो साज़िश और वह मैं होने न दूंगा।"—यह कहकर मैं हँस दिया. अब यह दोनों बड़े पशोपेश में पड़े। मैंने कहा—"तुन दोनों मेरे ही सामने सलाह करके बात पक्की कर लो।" मेरे सामने यह लोग सलाह करने को राजी न होते थे, क्योंकि सलाह कहीं किसी के सामने होती है। मन ही मन मुझे कोसते थे कि अच्छे काइयाँ से पाला पड़ा है। मैंने भी मन ही में कहा—बेटा हो तो आख़िर हमीं से पैदा, हम से उड़ कर भागे थे।

आख़िर को मैंने दोनों को अपने सामने ही सलाह करने को मजबूर किया। दोनों ही मेरे सामने बैठे—प्रताप राजू से कहता—"बोलो क्या कहते हो?" और राजू प्रताप से कहता—"तुम बताओ, तुम क्या कहते हो?" दोनों में से किसी की कुछ कहने की हिम्मत न होती थी, आख़िर को प्रताप ने पूछा—"लौट कर चलना चाहिये या नहीं?"

राजू बोला—"जब बाबूजी लौटाने के लिये आए हैं, तो न लौटने का सवाल ही कहाँ उठता है।"

प्रताप झल्ला कर बोला—"जब सवाल नहीं उठता था तो सलाह करने क्या बैठे थे।"

मैं मन ही मन खुश हो रहा था कि प्रताप बोला—"अच्छा बाबूजी आप इन्हें वापिस ले जाइये, मैं तो लौटने का नहीं।"

मैंने कहा—"वाह बेटा, ऐसा न करो कि मैं लखनऊ में मुँह दिखाने लायक़ भी न रहूँ। सब लोग यही कहेंगे कि इनके पास पैसा था तो गए अपने लड़के को लिवा लाए, उस बेचारे को बात तक न पूछी। मैं लाख कहूँगा पर लोग मानेंगे थोड़े ही कि तुम अपने मन से नहीं आए हो। मैं तुम्हारी माँ से कह आया था कि अगर लाऊँगा तो दोनों को लाऊँगा नही तो एक को भी नहीं। बेचारी भार-भार रोती थी, मेरी बात पर कुछ धीरज बँधा था। अब ऐसा न करो, जब राजू लौटने को तैयार हो गया है, तो तुम भी ज़िद्द न करो। दोस्ती के मायने तो यही हैं कि साथ साथ आए थे तो साथ-साथ लौटो।"

मेरी बातें सुन कर प्रताप की आँखों में आँसू आ गए। किसी तरह मैंने इसे भी चलने को राजी कर लिया। अब ये लोग मुझ से बोले कि बाबूजी आप यहाँ तक आए हैं तो कम से कम पैगोडा तो देख लीजिये। मैंने कहा—भैया, रंगून का रास्ता देख लिया, पैगोडा देखना होगा तो फिर कभी आऊँगा। इस वक्त तो तुम लोग वापिस चलो, इन लोगों के बहुत कहने पर मैं पैगोडा देखने गया, वाक़ई में देखने लायक चीज है। सीढ़ियों पर एक से एक स्त्रियाँ सुन्दर फूलों के दोने सजाए बैठी हैं, दूकानों पर औरतें ही दिखलाई पड़ती हैं, कहीं आदमी का नाम नहीं! सुना है, वहाँ औरतें ही कमा कर खिलाती हैं, आदमी बिल्कुल निखट्टू होते हैं। अन्दर भगवान् बुद्ध की मूर्ति थी, कैसी सौम्य!

शायद राजू अपनी तनख्वाह में से अपने भाई-बहनों के वास्ते कुछ भेजे, क्योंकि घर की दशा जैसी कुछ हो गई थी वह उनसे छिपी न थी! उनके कुशल पत्र आते रहते थे। जब एक बार इसके लिये इशारा किया गया तो उन्होंने बड़ा लम्बा-चौडा पत्र लिखा जिसमें उन कठिनाइयों का विशद वर्णन था जो उन्हें इस छोटी सी तनख्वाह में अपना गुजर करने में होती थीं। तनख्वाह बढने की कोई उम्मीद अभी न थी, पर उनका परिवार शीघ्र ही बढ़ने जा रहा था, उस समय के लिये भी कुछ रुपये की आवश्यकता थी, इस विषय में भी वे चिन्तित थे। शायद बुआ या भाभी को उन्हें लखनऊ लेने आना पड़े, उसके लिए भी तो रुपये की आवश्यकता थी। ऐसी दशा में वे क्या कर सकते हैं।

बाबू जी ने पत्र पढा, एक ठण्डी सास ली; फिर कहा "यह सब मैं समझता हूँ कि आजकल के ज़माने में कितना मुश्किल है। भले आदमी को अपनी भलमसी बनाकर भी रहना होता है, फिर भी अपना पेट ही काट कर चाहे जिस तरह अगर राजू पाच-सात रुपये भी अपने छोटे भाई-बहनों के रोटी-दाल के वास्ते ही भेज देता तो मुझे मालूम होता कि उसे इनका कुछ कलख है। पर उसने वही किया है जो आजकल सब कर रहे हैं, इसलिये शिकायत की बात ही क्या है।"

घर की दशा बद से बदतर हुई जा रही थी। बाबू जी कभी परिश्रम करने के आदी न थे, साल दो साल कमसरियट में नौकरी की थी, सो भी जाने कैसे। उसके पश्चात् इतने वर्ष रईसी की ज़िन्दगी बिताई, अब कुछ काम करने में शर्म भी मालूम होती थी, डर भी लगता था कि मुझसे होगा नहीं। पड़ोसियों और मित्रों में से जिनसे भी कुछ मिल सकता था क़र्ज़ लिया जा चुका था। जिसका अधिकाश मुक़दमेबाज़ी में ख़र्च होता था और बाक़ी घर में खाने-पीने में। उनके रहने के ढग में दिन प्रति दिन अवनति होती जाती थी। अब वह वक्त न रहा था जब नित्य नए कपड़े बनते थे, अब सब लोग अपने पुराने कपड़ों को उसी

तरह बदन से चिपटाए हुए दिखलाई देते थे, जैसे मातृप्रेम में पगली बँदरिया अपने मरे बच्चे के शरीर को निर्जीव हो जाने पर भी सीने से लगाए रहती है जब तक कि वह सड-गलकर स्वयं नहीं गिर जाता। कपड़े जर्जर हो जाते, उनके तार-तार अलग हो जाते फिर भी मैं देखता कि भाभो उसी से अपनी लज्जा ढँकने का प्रयत्न करती हैं, उसे बदन से हटाने का प्रयत्न नहीं करतीं, जब तक कि वह स्वय ही इस योग्य नहीं रहता कि उनके बदन से लगा रह सके। नए कपडे आने की आशा नहीं है तब पुराने को किस प्रकार और किस आशा से हटाया जाय। कपडे से भी अधिक बुरी दशा उनके यहाँ खाने में दिखलाई देती थी, क्योंकि कपडा बाहर के लोग देखते थे और खाना कोई देखने न आता था। एक वक्त था जब त्रिलोकी चार तरकारी और रबड़ी-मलाई बिना कौर न उठाता था। जिसके लिये एक परोंठे में इतना घी लगता था जितना दो पूरियों में लग जाय, वही अब ऐसा रूखा-सूखा खाना खाते थे कि देखते न बनता था। सवेरे दाल के साथ तरकारी न होती थी और शाम को कभी रसीली तरकारी बन पाती थी और कभी सूखी ही। मोटे नाज भी जो कभी पहले उनके यहाँ दिखलाई न पड़ते थे, अब बच्चे प्रशसा करके खाते थे। उनकी प्रशसा पर भाभो पीछे की ओर मुँह करके जर्जर आँचल से अपने आँसू पोंछ लेती थीं। उनके यहाँ के पराठों में अब घी की चम्मच मुश्किल से छूती थी; शाम को पक्का खाने की लकीर को पीटते रहने के विचार से ही शायद वे बनाये जाते थे, पर उनमें घी की कमी के कारण रोटी की सी मुलायमियत भी न रह पाती थी, वे चिमड़े हो जाते थे। पहले उनके यहाँ के भोजन को करके मैं दो-दो तीन-तीन दिन उसकी याद न भूलता था। अब वही मैं उनके यहाँ खाने के वक्त जाते हिचकता था। कुछ इस कारण कि उनके यहाँ का भोजन अब उससे काफी निम्न श्रेणी का होता है जैसा मुझे मिलता था। दूसरे मैं यह सोचता था कि उनके यहाँ तो खुद ही इस समय तंगी

हो रही है, उनके यहाँ खाना-पीना कगाली में आटा गीला करना है। उनके यहाँ खाते समय पहुँच जाने पर वे लोग आग्रह करने से बाज़ न आते थे, और न खाने पर वे कहते—"भाई, हम लोग ग़रीब आदमी हैं, हमारे यहाँ का खाना तुम क्यों खाने लगे।" ऐसी बात सुनकर मन को बड़ा दुःख होता था।

घर की ऐसी परिस्थिति हुई जा रही थी, पता नहीं खाने का भी प्रबन्ध कैसे होता था और आमदनी का कोई जरिया न था। मोहल्ले के बड़े बुजुर्ग जब तब बाबू जी को समझाते कि कोई छोटा-मोटा धन्धा करलो या भाई कहीं नौकरी-चाकरी ही कर लो। वे उस समय तो हाँ हाँ करते, पर करते कुछ नहीं, दिन भर मुकदमें के चक्कर में इधर से उधर घूमा करते थे। उनके एक चचेरे भाई बाबू सीताराम कानपुर में नौकर थे, सिमेन्ट मारकेटिङ्ग कम्पनी के वे एजेन्ट थे और उन्होंने अच्छी तरक्की की थी। वे जब आते, बाबू जी से कहते कुछ काम कर लीजिये, दो-चार धन्धे खुद बताये, रुपया अपने पास से लगा देने को तैयार थे, पर बाबू जी हाँ हाँ करते रहे, नतीजा यह हुआ कि उन्होंने इनके यहाँ आना ही छोड दिया। लखनऊ आते तो होटल में ठहरते। एक बार मुझे मिले, मुझ से बड़े प्रसन्न रहते थे। जब आते थे मैं उनका काम कर दिया करता था, कहीं चिट्ठी डाल आना, रजिस्ट्री करा देना या बाज़ार से कुछ सौदा वगैरह ला देना, मुझे अपना प्राइवेट सेक्रेट्री कहा करते थे और खूब फल खिलाया करते थे क्योंकि थे पेट के मरीज और फल ज्यादा खाते थे। मैंने कहा—"चाचा जी, अब तो आप त्रिलोकी के यहाँ आते ही नहीं हैं सुना है, होटल में ठहरते हैं।"

"वहाँ आकर क्या करूँ। वहाँ आता हूँ, घर की और बच्चों की दशा देखता हूँ तो बडा दुःख होता है। भाई साहब को हज़ार बार समझाया, पर वह एक नहीं सुनते। ऐसी दशा में उनपर भार बन कर रहना भी नहीं जँचता। मेरे जाने पर वह लोग कुछ ख़ास खाने-पीने का

प्रबन्ध करते हैं, जो उनके लिये और कष्टदायक होता है। इस दशा में मैं उन्हें इतना कष्ट देना नहीं चाहता।"

त्रिलोकी नवें में तीसरी बार फेल हुआ और उसने अपने मस्तिष्क का दिवाला निकाल दिया। बाबूजी की भी दशा ऐसी न थी कि वे पढने की इच्छा न रखने वाले लडके को भी यह सोचकर पढाते कि कभी न कभी तो पास होगा ही, जैसा कि आजकल के अधिकाश अविभावक किया करते हैं। इस प्रकार त्रिलोकी का पढना भी समाप्त हो गया और अब वह ख़ाली बैठा-बैठा खुराफात सोचने लगा और मोहल्ले में इधर उधर टोह में रहने लगा।

अच्छा यह हुआ कि इन्हीं दिनों त्रिलोकी के एक रिश्ते के मामा के लड़के, जो अभी कुछ ही साल पहले एम० बी० बी० एस० हुये थे और जो अपनी योग्यता और रसूक से एन्टी रैबिक सेन्टर (कुत्तों के काटने के इलाज का अस्पताल) के इन्चार्ज हो गये थे, बाबूजी से मिल गये। हाल चाल पूछने पर उन्हें मालूम हुआ कि त्रिलोकी पढाई छोड़कर खाली बैठा हुआ है। उन्होंने कहा—"मेरे अस्पताल में एक बीस रुपये के क्लर्क की जरूरत है अगर आप चाहें तो मैं उसे वहाँ रखवा दूं।"

बाबूजी का मन अन्दर ही अन्दर रोकर रह गया, हाय इन्हीं लड़कों के ऊपर मैं सैकडों रुपया ठाट-बाट में ख़र्च कर दिया करता था वही आज इस मोल बिक रहे हैं। अपने आसुओं को पीने की चेष्टा करते हुए वे बोले—"हा भैया, रखवा दो, तुम्हारी बड़ी मेहरबानी।"

"नहीं फूफा, इसमें मेहरबानी की क्या बात है।"—कहकर वे चले गए, और दूसरे दिन अस्पताल जाने पर त्रिलोकी की नियुक्ति हो गई। वह बाक़ायदा सवेरे आठ बजे अस्पताल जाने और तीन बजे तक वहाँ से लौटने लगा। मैंने सोचा देखो जिसके माथे पड़ती है, वह सब उठाने लगता है। पढ़ते वक्त जैसी लापरवाही त्रिलोकी करता था उससे कौन

अन्दाजा लगा सकता था कि यह कभी कुछ करेगा, पर वही कितना ठीक टाइम से अपने काम पर जाता है। एकाध बार उसने मुझे अपने अस्पताल में बुलाया भी, कम्पाउन्डर, नर्सें सभी उसका काफी आदर करते थे; क्योंकि वह वहा के इन्चार्ज का भाई होता था। सब लोग उसे 'कपूर साहब' कहते थे। मैंने त्रिलोकी का ठाट-बाट देखा और मन ही मन खुश होता हुआ घर आया कि अब वह ढग से है। अगर इसी तरह काम करता रहा तो अवश्य उन्नति करेगा।

उसके घर वालों से सुना कि त्रिलोकी बडी लायकी कर रहा है—अपनी पूरी तनखाह वह बाबू जी के हाथ में लाकर रख देता है और उसमें से एक पैसा भी नहीं मागता। यह सुनकर मैं गर्व से फूला न समाया, उससे मुझे हार्दिक स्नेह था, और उसके आत्मोत्थान की बात सुनकर मेरा प्रसन्न होना उपयुक्त ही था। मैंने भाभो से कहा, "देखा, आख़िर को है न मेरा दोस्त। एक तुम्हारे राजू हैं, कभी एक पैसा घर में न दिया।"

भाभो हँसने लगीं—"हा भैये, कहते तो तुम ठीक ही हो। बेचारा एक पैसा अपने जेब ख़र्च तक के लिए नहीं लेता।"

इन दिनों त्रिलोकी के दोस्त कुछ बढने लगे, ज्यादातर उसके अस्पताल में काम करने वाले व्यक्ति ही थे। तीन सज्जन अक्सर आया करते थे—दो मुसलमान थे और एक हिन्दू। त्रिलोकी ने एक दिन इन लोगों से मेरा परिचय कराया। बैठने तथा बात करने पर मालूम हुआ कि यद्यपि वे कम्पाउन्डरों की जगह काम कर रहे थे, पर तहज़ीब और बातचीत मे वे अच्छे-अच्छों से किसी प्रकार कम न थे। इन तीनों में से एक जिनका नाम यूसुफ हुसेन था, उर्दू के अख़बारों मे फिल्मों की आलोचना किया करते थे। कुछ फिल्मी प्लाट, सिनेरियों और डायलाग भी उन्होंने लिखे थे, जो अब तक डायरेक्टरों और सिनेमा कम्पनियों के मालिकों की मूर्खता और गुण ग्राहकता की कमी के कारण फिल्मी

संसार के सामने न आ सके थे। वर्ना उन्होंने जो चीजें लिखी थीं वे उनके विचार से शरच्चन्द्र चटर्जी, सुदर्शन अथवा जमुना स्वरूप कश्यप की रचनाओं से कम सफल न होतीं। दूसरे सहगल, पृथ्वीराज, चार्ली और दीक्षित के प्रतिद्वन्द्वी थे। वे यह अपना ही नहीं बल्कि रजतपट क्षेत्र का भी काफी दुर्भाग्य समझते कि वे अब तक अपनी इस शक्ति का प्रदर्शन न कर सके थे। त्रिलोकी को भी इस क्षेत्र से इतनी अधिक दिलचस्पी है, यह मैं उसी दिन जान पाया।

मैं पन्द्रह-सोलह वर्ष का था तभी से मासिक पत्रों में कहानियाँ लिखता आया था, जो बीमारी बढ़कर आज इस दशा को पहुँची है, पर उपरोक्त क्षेत्र मुझे अपनी पहुँच और समझ दोनों ही से परे मालूम होता था, इसलिये कभी इस ओर प्रयत्न ही न किया था। त्रिलोकी कभी-कभी मुझसे कहा करता था—"यार मुझे भी कहानी लिखना सिखा दो।" अक्सर लोग यह बात कहा करते हैं, कुछ सिर्फ हँसी करने के लिये, मुझे बनाने के वास्ते, कुछ इस विषय में गंभीर भी होते हैं, पर मैं सब को टालता ही हूँ क्योंकि मेरी समझ में किसी को कलाकार बनाया नहीं जा सकता है। कविता में चाहे यति भंग और मात्रा दोष दूर करने के लिये उस्ताद की ज़रूरत पड़ती हो, यहाँ तो उसकी भी आवश्यकता नहीं है। मेरी तो उन सम्पादकों से कभी न पटी जो अपनी लाल स्याही के रक्तरञ्जित हाथों से मेरी कृतियों को भी घायल करने के फेर में रहे। मुझे तो अपनी रचनाओं का प्राथमिक रूप ही पसन्द आता है—बनिस्बत उस कलात्मक रूप के (जैसा वे कहते हैं) जिसमें उनकी बदबू आने लगती है। अनेकों सज्जन और देवियां इस बात पर नाराज भी हो गई हैं कि मैं उन्हें कहानी लेखक या लेखिका नहीं बनाता, पर मैं अपनी असामर्थ्य को क्या करूँ।

अक्सर लोग पूछते हैं—"आपने कहानी लिखना किससे सीखा?"

"किसी से नहीं।"

"फिर आप लिखने कैसे लगे ?"

"कहानियाँ पढ़ा बहुत करता था, कुछ दिन एक बात ऐसी देखता सुनता रहा कि उसमें कहानीपन बहुत कुछ मालूम हुआ। दिमाग उसे लेकर उलझा रहा, एक बुखार सा चढ़ आया उस सच्ची घटना मे नमक मिर्च भी मिल गई। मैं तीन बजे बैठा और साढ़े छै बजे जब लिख कर उठा तो मालूम हुआ कि मैं कहानी लेखक हो गया हूँ। साथी-संगियों को यह बात बताई, कहानी सुनाई. जिनमें से त्रिलोकी भी एक था, तो उन्होंने भी समर्थन किया कि वास्तव में मैं कहानी लेखक बन गया हूँ।"

लोगों से यह बात कहता हूँ तो वे विश्वास नहीं करते, जो मुँहफट हैं, कहते हैं—"अब बनिये मत, जब मढ़ जाती है तो बजाए बनती है। वाह भाई, यह अच्छी कही, यह बिना किसी के बताए ही कहानियाँ लिखने लगे। भाई क्यों न हो, अब जो कहो सो थोडा है, थोड़े दिन में कहना हम पैदा नहीं हुए थे, आसमान से कूदे थे।"

हाँ, तो त्रिलोकी की कहानी सीखने की इच्छा पर कभी मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया। सच तो यह है कि मैं उसे इसका अधिकारी ही नहीं समझता था। जो व्यक्ति कभी भी अपने स्कूल-जीवन में हिन्दी मे चालीस प्रतिशत से अधिक अंकों को प्राप्त न कर सका, अक्सर अनुत्तीर्ण होता, उसका कहानी लिखने की बात कहना मुझे बिल्कुल अनाधिकार चेष्टा मालूम हुई, पर एक दिन जब उसने मुझसे कहा—"मैंने एक कहानी लिखी है, तुम्हें दिखाऊँ ?"

"तुमने! कहानी लिखी है ? सच कहो ?"

"हाँ, हाँ, अभी लाता हूँ"—कह कर वह एक चीज ले आया। मैं उसे आश्चर्य के साथ पढ़ गया। मुझे थोडी ईर्ष्या हुई, यह सोचकर कि त्रिलोकी के ऐसा व्यक्ति जिसे मैं कभी भी किसी प्रकार की प्रतिभा का अधिकारी न समझ सका, मेरा प्रतिद्वन्द्वी बनकर आया है। पर

कुछ सन्तोष हुआ यह देखकर कि उस रचना में ऐसा कुछ नहीं है जिससे त्रिलोकी अपने आपको मुझसे बड़ा कलाकर समझ सके। चित्रण, गम्भीरता और सूक्ष्म दृष्टि की कमी साफ झलकती थी, बड़ी चलताऊ सी चीज वह थी। अपने मनोभावों को दबाने की चेष्टा करके मैंने उसकी रचना की वैसी ही प्रशसा कर दी जैसी हिन्दी के बड़े लेखकों को नौसिखियों की करते हुए देखता था।

इसके बाद से वह अक्सर अपनी रचनाएँ मुझे दिखाने लगा, लिखते-लिखते वह भी कुछ मँज चला। अब उसे अपनी इन चीजों को मासिकपत्रों में प्रकाशित करने की इच्छा हुई और उसने मुझसे मदद माँगी। इस ओर जितना कुछ मेरी शक्ति में था मैंने उठा न रक्खा; क्योंकि सम्पादकों की दुनिया का मुझे काफी अच्छा अनुभव इस समय तक प्राप्त हो गया था। सम्पादकों का सच्चा और कटु अनुभव नए लेखकों को अपनी नई जिन्दगी के कुछ ही दिनों में प्राप्त हो जाता है, पुराने और प्रसिद्धि प्राप्त लेखक तो उसे भूलने लगते हैं। वही सम्पादक जो साहित्यिक महारथियों के आगे म्याऊँ-म्याऊँ ही किया करते हैं, किस तरह नए लेखकों पर अपनी विद्वत्ता का रोब जमाते हैं, उन्हें और अभ्यास करके अपनी पत्रिका के योग्य बनने का लेक्चर झाडते हैं, किस तरह उनकी रचनाएँ अशिष्ट उत्तर और बिना उत्तर के लौटा दी जाती हैं, किस तरह उनकी रचनाएँ, स्वीकृत हो जाने पर भी सम्पादक जी जब तक उसे नौ मास अपने गर्भ में धारण नहीं करते, प्रकाशित नहीं हो पातीं। इस प्रकार त्रिलोकी के लिने मैने प्रयत्न किया, पर उसकी रचनाएँ एकाध तीसरे दर्जे के पत्रों में ही प्रकाशित हो सकीं और वह भी बड़े विलम्ब से। त्रिलोकी शायद अपनी इस प्रगति से बहुत सन्तुष्ट न हो सका वह बहुत ही जल्द प्रसिद्धि पाना चाहता था और धन भी पाना चाहता था, जो हिन्दी साहित्य में बडी तपस्या के पश्चात् ऊँट के मुँह को जीरा का-सा मिलता है। शायद इन्ही कारणों

से असन्तुष्ट होकर उसने इस क्षेत्र में प्रयत्न करना छोड दिया ।

एक दिन मैंने उससे पूछा—"अब तुम कहानियाँ नहीं लिखते ?"

वह बोला—"लिखता हूँ, पर अब उन्हे पत्रों मे प्रकाशित कराने के लिए नहीं लिखता, बल्कि आज कल फिल्म कहानी लिखने के प्रयत्न में हूँ।"

"फिल्म् कथा लेखक हो जाना तो भाई जरा मेरा भी ध्यान रखना।"

वह हँसा, फिर बोला—"मेरी एक कहानी का फिल्म भी यदि बन जाय और मेरी इस क्षेत्र में जरा भी सुनवाई होने लगे तो मैं उसके बाद पहले तुम्हारी "चर्खे के बाद" और 'अकल' कहानी के फिल्म बनवाऊँ तब स्वयं दूसरी कहानी लिखूँ।"

मैं हँस दिया—"पढ़ीसजी भी इस कहानी (चर्खे के बाद) का फिल्म बनवाने के लिये कहते हैं, यदि उनके पास कभी इतनी शक्ति हुई और यही तुम भी कह रहे हो। इससे तो ऐसा मालूम होता है कि कभी न कभी इस कहानी के भाग्य जागेंगे।"

वह बोला—"ज़रूर, ज़रूर।"

इसके पश्चात् कई महीनों के प्रयत्न से उसने और यूसुफहुसेन ने मिलकर दो फिल्म कहानियों के कथानक और वार्तालाप लिखे। शायद एक में कथानक त्रिलोकी का था, वार्तालाप यूसुफ के और दूसरी में कथानक यूसुफ का था और वार्तालाप त्रिलोकी के। जहाँ तक मुझे याद है—दोनों ही रचनाएँ सामाजिक थीं और उनमें से एक के पात्र हिन्दू थे और दूसरी के मुसलमान। वार्तालाप लिखने का ढग आगा हश्र काश्मीरीवाला नाटकीय था। इन दोनों रचनाओं के तयार होजाने पर, उनके फिल्म बनने की बातचीत शुरू हुई। त्रिलोकी और यूसूफ यह सलाह करने लगे कि वे बम्बई जाकर फिल्म निर्माताओं से मिलें।

इन्हीं दिनों अपने अस्पताल के इन्चार्ज डाक्टर भाई के पास आने/जाने वाली एक महिला से त्रिलोकी का परिचय हुआ। वह उन्हें बहिन-जी कहता था और उनकी बड़ी प्रशंसा किया करता था। उनके विषय में उसने मुझे बताया था कि वे ब्राह्मण कुमारी और पहले एक ब्राह्मण की ही पत्नी थीं। बहुत थोड़ी अवस्था में ही वे विधवा हो गईं। त्रिलोकी का कहना था कि उसके पश्चात् उन्होंने नगर के एक अन्य जाति के सज्जन को अपने पति रूप में चुन लिया और वे अब उन्हीं के पास रहती हैं। इस महिला के विषय में जो कुछ सुना था उससे यही अनुमान होता था कि वे बड़ी ही शिक्षित और सम्भ्रान्त महिला थीं और उनका परिचय और प्रभाव नगर के बड़े-बड़े लोगों पर था। त्रिलोकी का कहना था कि वे उसे बिल्कुल अपने छोटे भाई की तरह मानती थीं। उनके वर्तमान पति ने उन्हें अपने बीबी बच्चों से अलग मकान लेकर रखा था, जहाँ त्रिलोकी तभी जाया करता था जब कि उनके पति के आने का समय न होता था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं उन महिला के दर्शन करूँ, पर न कभी त्रिलोकी ने मुझसे उनके यहाँ चलने को कहा, न मैंने ही उससे कभी कुछ कहा, क्योंकि मैं सोचता था कि वह न जाने क्या समझे।

इन सूर्य कुमारी देवी ने भी त्रिलोकी के इस फ़िल्म-कथा-लेखन में बड़ी दिलचस्पी दिखाई। वे उसका खूब ही उत्साह बढ़ाती रहती थीं और हर तरह उसकी सहायता देने को तैयार रहती थीं। इधर त्रिलोकी और यूसुफ ने बड़ी मेहनत से रुपए जुटाना शुरू किया था जिससे वे अपनी कृतियों को बम्बई ले जाकर फ़िल्म कम्पनियों में दिखला सकें। कितनी आशा और उत्साह उनमें था, यह देखने की ही चीज थी। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि बम्बई पहुँचते ही उनकी कला का मूल्य आँकने वाला कोई न कोई मिल ही जायेगा और वे फिर मालामाल होकर लखनऊ लौटेंगे। सूर्य कुमारी जी ने इन लोगों की यह सहायता की

कि इनकी इन फिल्म कहानियों में से एक पर भारतवर्ष के एक बहुत गण्यमान नेता से आशीर्वाद लिखाया और दूसरी पर सयुक्त प्रान्त के एक मन्त्री द्वारा भूमिका। इन शुभ कामनाओं और प्रशंसाओं को पाकर वे लोग फूले न समाए और अब धीरे-धीरे सभी को उनकी सफलता पर विश्वास होने लगा। दोनों ही ने अस्पताल से १५ दिन की छुट्टी मागी और उसके स्वीकार हो जाने पर वे लोग चलने को तैयार हो गए।

जिस दिन वे लोग बम्बई जाने को थे, मैं भी उन्हें स्टेशन भेजने गया। उनके चेहरे उत्साह से चमक रहे थे। उनके कई मित्र उन्हें भेजने गए थे और किसी ने दो हार भी उन्हें पहना दिये थे। यूसुफ के गले और हाथों में (अचकन के ऊपर) कुछ तावीज़ बँधे थे जो शुभ कामनाओं और कार्य सिद्धि के वास्ते थे। त्रिलोकी और यूसुफ दोनों ही के पिता मौजूद थे और उन्हें होशियारी से रहने और सफर करने के विषय में सीख दे रहे थे। मित्र लोग कह रहे थे—भैया, बडे आदमी हो जाना तो जरा हम लोगों का भी ध्यान रखना, ऐसा न करना कि आँखें फेर लो। कुछ साहबान सौगातों की फरमाइशें कर रहे थे और कुछ अपने सौदे की याद दिला रहे थे। गाडी छूटने लगी तो वे लोग सबसे मिले और बिदा ली।

मैं इधर त्रिलोकी से थोड़ी, थोडी ईर्ष्या करने लगा था यानी जब से उसने फिल्म क्षेत्र के विषय में प्रयत्न करना शुरू किया। परन्तु आज मैं भी प्रभावित था और सोचता था कि सम्भव है त्रिलोकी के फिल्म-कथा-लेखक हो जाने पर मुझे भी कुछ लाभ पहुँचे और मेरी भी एकाध कहानी का फिल्म बन जाय।

११

बम्बई से त्रिलोकी का पत्र शीघ्र ही आया, लिफाफे में मेरे लिए भी एक पत्र था उसमें लिखा थाः—

"मैं यहा पर बहुत प्रसन्न हूँ। वास्तव में बम्बई बड़े शान की जगह है, न जाने कितने लखनऊ इसमें बस जायँ। व्यापार और धन का वैभव यहा दिखलाई पड़ता है, लोग कितने व्यस्त हैं जिसको देखो अपने काम के लिये घबड़ाया हुआ जा रहा है। लखनऊ के शरीफ लोग जिसे शरीफाना चाल कहते हैं, वह यहा शायद ही दिखलाई दे, इन लोगों की नज़र में समय का मूल्य बहुत है। रोज-रोज नई जगहें देखने को जाता हूँ, उनमें आनन्द जरूर आता है, फिर भी मन यहाँ जमता नहा, वास्तव में लखनऊ-लखनऊ ही है, उसके आगे बबई पानी ही भरती है। लखनऊ और बम्बई के सौन्दर्य में वही अन्तर है जो किसी भोली-भाली सिमटी सिकुड़ी सुकुमारी की एक भोली चितवन और किसी रँगमञ्च पर उछलती-कूदती अङ्गों का प्रदर्शन करती हुई अभिनेत्री के कटाक्षों में। मुझे इस बाजारू शहर में शान्ति नहीं मिलती। चौपाटी न हो तो समझ में नहीं आता कि अपनी-अपनी जान इस चारों तरफ मची रहने वाली खाँव-खाँव से कहाँ बचावें।

ख़ैर, मतलब की बात पर आऊँ। इस ओर जो कुछ अब तक हुआ है, काफी आशाजनक है। मैं यहाँ की फिल्म कम्पनियों के अनेकों डायरेक्टरों से मिला। यहाँ आने पर इन कम्पनियों की शान शौकत वाले दफ्तरों को देखकर एक बात का दिल में डर लगने लगा था कि कहीं यहाँ से हम लोग तुम्हारी रचना में कुछ नहीं हैं, यह कहकर दुतकार न दिये जाँय। भगवान् की दया से अब तक तो ऐसी नौबत नहीं आई। एक चीज जिससे हमें अपने कार्य में काफ़ी उत्साह मिला

और आशा बँधी वह यह है कि सबने हमारी रचनाओं की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है।

कुछ ही दिनो बाद उसका दूसरा पत्र आया। मैंने बड़ी ही आशा से उसे खोला कि उसमें यह खबर होगी कि उसकी कहानी का सौदा किसी से तय हो गया, पर पत्र का कुछ और ही विषय था।

तुमको मेरे पहले पत्र से जैसा तुमने लिखा था यह ठीक ही आशा हुई थी कि कहानी का सौदा कही न कहीं जल्दी ही पट जायगा, उस समय तक मुझे भी ऐसा ही दिखलाई पड़ता था, पर अब मुझे कुछ-कुछ निराशा होने लगी है। एक मुसीबत जो यहाँ अक्सर पेश आती है वह यह है कि अधिकतर कम्पनियों के अपने कथा और सवाद-लेखक हैं जो उनके यहाँ से बराबर वेतन पाते हैं। कम्पनियों को इन लोगों पर ही विश्वास होता है कि वे अच्छे लेखक हैं, क्योंकि उन्हें रखते हैं तभी काफी ठोक-बजा लेते हैं, बाक़ी कसर तब पूरी हो जाती है जब वे उनकी एकाध रचनाओं के चित्र बनाते हैं। जैसी कुछ उन्हें सफलता मिलती है उस पर वे सतोष करते हैं और नए लेखकों की रचनाओं को अज़माने से डरते हैं, क्योंकि उनमें स्वय तो इतनी बुद्धि होती नहीं है कि अच्छी बुरी चीज़ की परख सकें। ठीक भी—अमीर लोग हमेशा ही परिवर्तन से डरते रहते हैं और मालूम होता है हमेशा रहेंगे। हम लोगों की रचनाओं को यदि वे परखते भी हैं तो अपनी आँखों से नहीं, बल्कि अपने उन सेवक लेखकों की आँखों से। वे भला हमारी रचनाओं की प्रशसा उनसे क्यों करने लगे, ऐसी ही गलती करने लगें तो इन कम्पनियों में वे कितने दिन टिक सकें। अपने पेट के लिये ये लोग भी ऐसी दोरँगी चालें खेलते हैं कि उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोडी है। हम लोगों से वे हमारी रचनाओं की खूब ही प्रशंसा करते हैं उनमें से अधिकतर में इतना नैतिक साहस और तार्किक बुद्धि नहीं है कि वे हमारी चीज़ों को हमारे मुह पर बुरा सिद्ध कर सके, और कहते

हैं कि वे अपने मालिक से हमारी सिफारिश कर देंगे, पर करते हैं वे ठीक इसका उल्टा, अर्थात् हमारी जड़ खोदने का ही प्रयत्न करते हैं, क्योंकि अगर हमारी जड़ जमने लगेगी तो उनकी खुद जायगी। उनके इन हथकण्डों से और लक्ष्मी के कृपापात्र और सरस्वती की कृपाकोर के सहस्रांश से भी वंचित इन कम्पनियों के मालिकों की मूर्खता से हम लोग अभी तक उखड़े ही उखड़े हैं, कहीं भी पैर न जमा पाए।

छुट्टी ख़त्म होने को आई, ख़र्च धीरे-धीरे चुक रहा है और अभी तक कुछ तय नहीं हुआ। कुछ समझ में नहीं आता क्या होगा, कहीं ऐसा न हो कि यहाँ आना ही व्यर्थ सिद्ध हो।

दूसरे तीसरे ही दिन उसका एक्सप्रेस डिलीवरी पत्र आया, बाबू जी से कह कर मुझे जैसे भी बने बीस रुपया भिजवा दो और अपनी दोनों कहानियाँ यानी 'चर्खे के बाद' और 'अकल' एक दम भेज दो, जरा मैं उन्हें भी इन आँखों के अन्धों को दिखलाऊँगा, कहूँगा सिर्फ कथानक ख़रीद लो, संवाद अपने आप लिखवा लेना, देखें उनके विषय में क्या कहते हैं, क्योंकि जब मैं इन लोगों के सिर ही होने लगा हूँ तो अब ये लोग मेरी रचनाओं के कथानक को अधिक मौलिक, रोचक और उत्कृष्ट नहीं बताते।

जैसे-तैसे रुपए भी भेजे गए और कहानियाँ भी। मैंने पत्र में लिखा :—

इन कहानियों को दिखला कर तुम्हारा बम्बई जाना सफल हो जायगा, ऐसा मेरा जी नहीं कहता, क्योंकि इन कम्पनियों में चीज की वक़त नहीं होती। तुम बहुत ही शीघ्र सफल हो जाते यदि वहाँ पर तुम्हारा कोई सम्बन्धी या मित्र होता। हमारी हिन्दी में इतने बड़े-बड़े लेखक हैं पर फिल्म वाले क्या कभी उनकी रचनाओं को उठाकर भी देखते हैं? प्रेमचन्द जी फिल्म संसार में गए, पर वे उससे असन्तुष्ट ही रहे, फ़िल्म वालों को बाज़ारू चीज़ें चाहिए, खूब फड़कती हुई, कोई

"क्या बताऊँ कहा रहता हूँ, मैं बताऊँगा तो तुम भी मुझ पर हँसने लगोगे।"

"मैं हँसने लगूँगा! आज तक मैं कभी तुम पर हँसा हूँ?"

"नहीं हँसे हो तो यह तुम्हारी सज्जनता है, पर मेरे काम होते सब हास्यास्पद ही हैं, सुनो, मैं आज कल एक फिल्म कम्पनी खोलने का विचार कर रहा हूँ।"

मुझे वास्तव में बड़ी ज़ोर से हँसी आई, पर अपनी पहले कही हुई बात को सोच कर एकदम अपने आपको रोक लिया। ओठों पर हँसी की रेखा आते-आते रह गई। मन में सोचा 'इसको हुआ क्या है, फिल्म कम्पनी हुई, बच्चों का घिरोंदा हुआ, जरा सी मिट्टी इकट्ठी कर ली और बना लिया। फिल्म कम्पनी स्थापित करने के लिए तो लाखों रुपए की आवश्यकता होती है, घर में तो आज कल खाने का ठिकाना नहीं है। यह कम्पनी किस जादू से क़ायम की जायगी।' उससे सिर्फ इतना पूछा—"लेकिन इतना रुपया कहाँ से आएगा?"

"बात तो वाक़ई में तुमने बहुत महत्वपूर्ण पूछी है। कम्पनी स्थापित होने में यदि कोई कमी है तो यही है, वर्ना और सब चीजों का प्रबन्ध तो हो चुका है। कथा और संवाद-लेखक मैं और यूसुफ हुसेन हैं, कई तजुर्बेकार डायरेक्टर उस दिन की आशा लगाए हुए हैं जब हमारे ऊपर किसी लक्ष्मीपति की कृपा हो जाय, न जाने कितने लखनऊ के रँगीले जवान जिन्हें पाकर कोई भी फिल्म कम्पनी अपने आपको धन्य समझती—उस दिन की राह देख रहे हैं, जब वे अपने अभिनय से संसार के श्रेष्ठ कलाकारों को मुँह छिपाने पर मजबूर कर देंगे, जानें कितनी सुन्दरियों व कोकिलबयनी देवियों ने हमें कृतार्थ करने का वचन दिया है। बस, अब यदि देर है तो रुपए की।

"जो सबसे खास चीज़ है"—मैंने कहा।

"हाँ, जो सबसे खास चीज है। कम्पनी के वास्ते इतनी बातों का प्रबन्ध हो गया है, यहाँ तक कि इन्जीनियर व केमरामैन इत्यादि मशीन का जितना काम करनेवाले होते हैं, उन तक से पत्र-व्यर्वहार हो चुका है और सब कुछ तय पाया जा चुका है, फिर भी बिना रुपए के जैसे कुछ नहीं हुआ है। लेकिन ऐसा नहीं है कि रुपए का प्रबन्ध हो नहीं पाएगा। मैं आजकल उसके वास्ते जी जान से जुटा हुआ हूँ और अब तक सफल हो गया होता यदि आप के लखनऊ की आइडियल फिल्म कम्पनी ने फेल होकर यहाँ के रईसों के मन से फिल्म कम्पनियों की साख न उठा दी होती। अब मैं लाख उन्हें समझाता-बुझाता हूँ कि इसमें घाटे की गुंजायश नहीं है पर वह लोग हत्थे चढ़ते ही नहीं मैं उनके सामने सिद्ध कर देता हूँ कि इस व्यापार से अधिक लाभ की गुंजायश नहीं है, पर वे कहते हैं—"नहीं भाई, हमें माफ करिये, एक बार घाटा सह के हम लोग तोबा कर चुके हैं कि अब कम मुनफ़ेवाला ही काम करेंगे पर इस काम में पैसा न लगायेंगे।"

"परिस्थिति बडी गम्भीर है।"

"लेकिन मैं इससे निराश होनेवाला नहीं। यह तो मेरी भी समझ में आता है कि लखनऊ में अब मुझे फाइनेन्सियर (पैसा देनेवाला) न मिलेगा, पर लखनऊ में ही कुछ दुनिया थोड़े ही खत्म हो गई है। मैं बाहर के किसी आदमी को पकड़ूँगा। एक आदमी मिल जाय तो चालीस-पचास हज़ार के शेयर खरीद ले, फिर तो रुपया अपने आप रुपए को घसीटने लगेगा।"

"बात ठीक कहते हो। कोशिश करते रहो जहाँ इतना सब हुआ है, यह भी हो जायगा।"

"जरूर होगा, मुझे पूर्ण विश्वास है।"

इसके बाद एक दिन त्रिलोकी के छोटे भाई प्रकाश से—जो अब

होश सम्हाल चुका था और पहले की भाँति नाराज़ हो जाने पर मुझसे कभी अपने घर आने को मना न करता था—त्रिलोकी के विषय में पूछा तो मालूम हुआ कि वह बाराबंकी गया है।

"बाराबकी क्यों गया है ?"

"कोई बड़े आदमी हैं, वहाँ उन्हीं से मिलने जाते हैं।"—प्रकाश ने उत्तर दिया।

"ठीक, ठीक"—मेरी समझ में बात आ गई।

"कब से वहाँ जाते हैं ?"

"कोई सात-आठ रोज से करीब-करीब रोज़ ही शाम को जाते हैं। दफ़्र से सीधे स्टेशन चले जाते हैं फिर रात को दस बजे जो गाड़ी आती है उससे लौटते हैं।"

एक रविवार पड़ा, त्रिलोकी के घर में कुछ चहल-पहल दिखलाई दी, सामने प्रकाश ही दिखलाई दिया, पूछा—"क्यों आज क्या बात है ?"

"त्रिलोकी भैए के कुछ दोस्तों की दावत है।"

"कौन दोस्त ?"

"आपको मालूम है कि नहीं—त्रिलोकी भैए एक फिल्म कम्पनी खोल रहे हैं, उसी में काम करने वाले लोग हैं और बाराबकीवाले वह सेठ भी हैं।"

"अच्छा वह भी हैं, तब तो मालूम होता है बात पक्की हो रही है।"

"हाँ, भैए बुआ से कल बता रहे थे कि उन्होंने पचास हजार रुपए देने का वायदा कर लिया है।"

"तब तो त्रिलोकी को इस काम में सफलता मिल जायगी"—यही सोचता हुआ मैं ऊपर के कमरे में चला गया; क्योंकि उनके बाहर के बैठके में ही तख़्त पर खाने का प्रबन्ध हो रहा था, इसलिये यह सोच-कर कि यदि मैं सामने पड़ूँगा तो त्रिलोकी को सकोच होगा कि

उसने मुझे नहीं बुलाया और मुझे सामने देखकर वह मुझसे पूछेगा ज़रूर।

ऊपर के कमरे में होने पर भी मुझे सब आहट मिलती रही कि कब लोग आए, खाने के लिए हाथ धोए गए और कब खाना खाकर बाहर के चबूतरे पर खड़े होकर कुल्ला किया गया। मैंने आवाज़ सुनी, त्रिलोकी प्रकाश से जो हाथ धुला रहा था कह रहा था—"आज बब्बू नहीं दिखलाई देते, कहीं गए हैं क्या?"

प्रकाश बोला—"अभी आपके आने के पहले तो मुझसे आपको पूछते थे। किताबें लिए थे, शायद अन्दर ही होंगे।"

"किताबें लेकर अन्दर गए हैं। यह नई बात कैसे? बब्बू, बब्बू मुझे आवाज दी गई।"

ऊपर जाली में से ही मैंने झाँककर कहा—"कहिए, हुकुम?"

"कर क्या रहे हो ऊपर?"

"पढ रहा हूँ।"

"वह कौन-सी पढाई है, जो औरतों के बीच में बैठकर ज्यादा अच्छी होती है?"

"आपको मालूम नहीं? एकनामिक्स में कुटुम्बों के खर्च के जो बजट बनते हैं उनमें स्त्रियाँ बड़ी सहायता कर सकती हैं।"

"अच्छा भाई अच्छा, तुम जीते, मैं हारा, नीचे आओ न।"

"नीचे क्या जूठन उठाना है?"

त्रिलोकी एक क्षण के लिए चुप हो गया, फिर बडी करुण दृष्टि से मुझे देखकर बोला—'अच्छा नीचे आओ।'

नीचे पहुँचने पर वह मेरा हाथ पकड़ कर बोला—"क्यों तुम ऐसी बात कहते हो?"

उसे बहुत ही गम्भीर हो जाते देखकर मैं अपनी मर्मभेदी बात के लिए स्वयं लज्जित हुआ, कुछ कह न सका, बस उसे देखता ही रह गया।

वह फिर बोला—"अगर अपने मित्र से गलती हो जाती है तो उसे

क्षमा नहीं किया जाता, ऐसे व्यंग किये जाते हैं, क्यों ?"

"तो तुमसे गलती कौन-सी हुई है ? मैंने तो तुमसे ऐसे ही हँसी की थी, यह क्या जानता था कि तुम इतने गम्भीर हो जाओगे। मैंने यही सोचकर कहा कि खाने-पीने के बाद आख़िर और काहे के लिए याद की जा सकती है ?"

"फिर वही कहे जाते हो, ठीक है भाई, अब तुम कालिज, में पढने लगे अब हम लोगों को बोलने थोड़े ही दोगे अपने सामने।"

"नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है।"

"यह मै मानता हूँ कि यह मेरी गलती है कि अब मैं तुमसे पहले की तरह मिल नहीं पाता, लेकिन जब हम लोग अपनी रोज़ी कमाने के फेर में पड जाते हैं तो ऐसा ही होता है। फिर साथ सिर्फ उन्हीं लोगों का रह जाता है जो इस सघर्ष मे उसके साथी होते हैं, पिछले साथियों से उतना मिलना बैठना नहीं हो पाता, लेकिन उनके वास्ते हृदय में प्रेम नहीं रह पाता—क्या ऐसा भी कोई कह सकता है ?"

"नहीं भाई, कभी नहीं। मैं इसकी तो शिकायत भी नहीं करता। अच्छा बताओ किस वास्ते नीचे बुलाया है ?"

"चलो तुम्हारी इन लोगों से मुलाक़ात करा दूँ।"

सबसे पहले जिनसे परिचय कराया गया वे पहली ही दृष्टि में मुझे सेठ जॅच गए थे। नई उम्र के, लगभग छब्बीस-सत्ताइस साल, सॉवला रङ्ग, ठिंगना क़द, अच्छे साफ कपडे पहने हुए थे, इस मामले में अपनी वंश-परम्परा का अनुकरण करते हुए न दिखलाई देते थे। देखते ही मैं समझ गया कि यह मालूम होता है, नए-नए ही ये अपनी सम्पत्ति के स्वामी हुए हैं। नया ही उत्साह है पुराने लोगों की तरह बराबर आगा पीछा विचारनेवालों में नहीं हैं, इनसे तो इन लोगों को रुपया मिल सकता है। बताया गया—"आप ही बराबकीवाले सेठ जी हैं, आपने हमारी कम्पनी के पचास हज़ार के शेयर लेने का वायदा

किया है।" दूसरे सज्जन थे कैलाशनाथ श्रीवास्तव, उन्हें बताया गया कि सिनेमा लाइन का बड़ा जबर्दस्त अनुभव है और वे भी त्रिलोकी की तरह कम्पनी के कनवीनर कहे जा सकते हैं। तीसरे व्यक्ति थे श्री चमन एक काश्मीरी नवयुवक जो पहले एकाध फिल्म में अभिनय भी कर चुके थे, और इस कम्पनी के आगामी फिल्म के प्रमुख अभिनेता तय हो चुके थे। इन सज्जनों के अतिरिक्त यूसुफ हुसेन और अन्य लोग भी थे जो इसी प्रकार इस फ़िल्म कम्पनी में कुछ न कुछ होनेवाले थे।

मैं बैठा बातचीत करता रहा, देखा सेठ जी को छोड़कर और क़रीब-क़रीब सब ही बातचीत करने में काफ़ी तेज़ थे। मालूम होता था दुनिया का अनुभव सब इन्हीं को इनसे गिरा है तो किसी को मिला है। यों तो वे लोग एक से एक बढकर थे, पर कैलाशनाथ श्रीवास्तव का कोई सानी न था। जाना कितनी अभिनेत्रियों से उन्होंने अपनी मित्रता ही नहीं इससे भी निकटतर सम्बन्ध बताया और बड़े से बडे डायरेक्टरों के बारे में ऐसी बातें बतलाईं जैसे वे सब इनके लँगोटिया यार ही रहे हों।

थोड़ी देर बाद सब लोग चले गए, पर अब अधिकतर त्रिलोकी की बैठक में खाली वक्त में काफी जमाव रहता था, पान सिगरेट और नाश्ते की धूम रहती। हमारे भैया ड्यूटी पर बाहर जाया करते थे तो वे जो भी सस्ती चीज़ लाइन भर में कहीं भी मिलती, वह ले आया करते थे। जब से बाबू ब्रजनाथ की दशा बिगड गई थी, भैया अपने साथ ही साथ उनके लिए भी सस्ती मिल जाने पर तरकारी या पान ले आते। इधर बाबू जी के यहाँ से पान के सन्देसे बहुत आने लगे, तो भैया ने प्रकाश से पूछा—"आज़कल पान तुम्हारे यहाँ बहुत खर्च होते हैं। कौन ज्यादा खाने लगा?"

"कोई नहीं, यही त्रिलोकी भैए के दोस्त आते हैं, वे खा जाते हैं, जितने पान आप ला के देते हैं, सब उन्हीं भर को होते हैं।"

बैठक का जमाव बढता ही चला गया, एक से एक ठाट बाट के आदमी दिखलाई देते। मैं देखता और समझता कि त्रिलोकी और उसके कार्य का प्रभाव बढ रहा है, तभी तो इतने बडे-बडे लोग उसके पास आते हैं। बैठक मे अक्सर खूब बड़े बड़े मन्सूबे बँधते या बहस होती, यह बात इस तरह होनी चाहिए और दूसरा कहता वाह-वाह कहीं ऐसा भी होता है—यह इस तरह होता है।

प्रकाश अब मेरे पास पढने आया करता था। मेरे स्वभाव की तेजी के कारण मुझसे डरता था, पर मेरे हृदय मे उसके लिए जो छोटे भाई का सा स्नेह था, उसे भी समझता था। एक दिन वह मुझसे बोला—
"त्रिलोकी भैए की कम्पनी के खुलने का जल्सा होने जा रहा है।"

"हाँ! कब ?"

"आपको निमन्त्रण पत्र नहीं मिला, सारे शहर के बड़े-बड़े लोगों के पास तो निमन्त्रण बाटे गए हैं।"

"तब तो मुझे कोई शिकायत नहीं।"

"क्यों ?"

"मैं बडा आदमी नही हूँ न !"

"लेकिन अपने दोस्तों को भी तो बुलाया है उन्होंने।"

"दोस्तों की गिनती की कोई हद तो होती नहीं है, कोई सबको न बुला सके तो ?"

"तो आप ही रह गये थे छोड़ने के लिए। मैं आज ही पूछूँगा देखिये उनसे।"

"नहीं तू रहने दे, मेरी सिफारिश करने को।"

"सिफारिश नहीं, मैं उन्हें उनकी गल्ती बताता।"

"नहीं तू रहने देना। समझे, कुछ कहना नहीं उससे।"

"अच्छी बात है।"

दूसरे हफ़्ते में कम्पनी का प्रथम उत्सव मनाया जाने को था,

त्रिलोकी बहुत ही व्यस्त था। वह आजकल रोज ही शाम को बाराबंकी जाता था, साथ में कैलाश श्रीवास्तव और यूसुफ भी होते थे। मैं सोचा करता था, यह त्रिलोकी इतना पैसा आजकल कहाँ से लाया करता है।

एक दिन शाम को त्रिलोकी कमरे में बैठा हुआ खाना खा रहा था। बुआ बदस्तूर दरवाज़े के पास बैठी हुई थीं। त्रिलोकी ने उनसे कहा—"अब मेरा दफ़्तर में काम करने में मन नहीं लगता है। वही सुइयाँ लगवाने वालों के नाम पते नोट करो, जब अच्छे हों तो उन्हें सर्टीफ़िकेट लिखकर दो। मशीन की तरह रोज-रोज़ वही एक ही काम।"

"फिर भी बेटा उसे करते रहना चाहिये, क्योंकि घर की रोटियाँ उसी से चलती हैं। जब तक दूसरी ऐसी चीज न हो जाय जिससे आमदनी हो, लगी नौकरी कभी न छोड़े।"

"नहीं तो मैं छोड़ने को थोड़े ही कह रहा हूँ।"

"अच्छा, क्यों भैये सिनेमा में छोटे लड़के भी तो काम करते हैं।"

"हाँ, हाँ क्यों नहीं।"

"इन्हें तनख्वाह क्या मिलती होगी ?"

"जैसा होशियार लड़का हो, पाँच सौ, हजार।"

"अपना प्रकाश भी तो होशियार है, इसकी नौकरी नहीं हो सकती ?"

"हाँ क्यों नहीं सकती। कोई ऐसी कहानी हो जिसमें छोटे लड़के की ज़रूरत हो. तो जरूर हो सकती है।"

"तो भैये, इसको भी उसी में करा देना न। तू हजार-बारह सौ पाएगा, इधर ये चार-पाँच सौ पाएगा तो घर के दिन फिर फिर जायँगे।

"तुम तो अभी से मन के लड्डू बाँधने लगीं······।"

मैंने चबूतरे पर आकर कहा—"त्रिलोकी, बुआ नहीं काम कर सकती हैं उसमें ?"

"कर क्यों नहीं सकती हैं," त्रिलोकी मुस्कराता हुआ बोला—"यह तो पार्ट करे तो बहुत अच्छा रहे।"

"और तनख्वाह क्या मिले इन्हें ?

"कम से कम डेढ हजार।"

"तब तो ठीक है, लेकिन कोई पार्ट इनके लायक है तुम्हारी कहानी में ?"

"है क्यों नहीं, वही औरत जो सबसे लड़ती रहती है।"

"अच्छा तो मैं लडका हूँ, बेईमान कहीं के, तुम दोनों के दोनों मिलके मुझे बना रहे हो।"

"अरे तुम तो बेकार ही में बिगडने लगीं, यह किसने कहा कि तुम लड़ाका हो, पार्ट लड़ाका का करना है।"

"अरे चलो, मुझसे न उडो, मैं भी सब समझती हूँ, तुम लोग मुझसे पैदा हो कि मैं तुमसे पैदा हूँ।"

हम दोनों हँसने लगे, बुआ भी ज्यादा नाराज न हुई।

एक दिन सुबह मैं बैठा पढ़ रहा था। दतून करते वक्त बाबू जी ने भैया से कहा—"कल साहब वह त्रिलोकी की कम्पनी खुल गई।"

"अच्छा, बड़ी खुशी की बात है। बेचारे की मेहनत सफल हो गई।"

"जी हाँ और क्या। मुझसे कल कहा तो साहब मैं भी गया, बड़े-बड़े लोग इकट्ठे हुये थे, पढे-लिखे रईस। दूसरे महीने में उम्मीद है, काम शुरू हो जाय। बहुत आदमी इकट्ठा हुआ था, पचास रुपये के तो लड्डु बँट गए।

बड़ा अच्छा है साहब, काम शुरू हो जाय, चलिये बन गया।

१३

'कौन है ऐसा जिससे बचपन में गलती नहीं होती, पर समझ आने पर सभी सम्हल जाते हैं।'—यही बात त्रिलोकी की छोटी बहन चन्दो को देख कर एकदम मन में आ जाती थी।

चुन्नीलाल ने बहुत दिन हुए यहाँ से नौकरी छोड़ दी थी। कुछ दिन वह सिनेमा में पान बेचता रहा, फिर किसी बाबू के साथ कलकत्ता चला गया। जहाँ उसने एक फ़िल्म कम्पनी में पर्दे रंगने का काम सीखा और अब वहीं नौकर था। एक बार चिट्ठी आई थी तो उसमें लिखा था, अब मैं आप लोगों की दुआ से अच्छा खाता-कमाता हूँ। बब्बू भैया ने मेहरबानी करके जो कुछ थोड़ा बहुत मुझे पढा दिया था वह इस वक्त मेरे बहुत काम आ रहा है। कई साल बाद जब मैं एक शादी में कलकत्ते गया तो देखा कि उसके बड़े ठाट हैं पर मिला बड़े प्रेम से। सबका हाल-चाल पूछा, दबी जबान से चन्दो को भी पूछने लगा—"तो मैंने कहा अब वह बहुत अच्छी लड़की हो गई है।"

और वास्तव में चन्दो अब बहुत अच्छी लड़की हो गई थी। उसकी आँखों में अब वह वासना का सन्देश न दिखलाई पड़ता था जो पहले था। उसका रूप और यौवन इस समय अनुपम हो रहा था, यहाँ तक कि मेरा मन भी, जो अब अवस्था के साथ अपना रंग बदल रहा था, उसे देख कर व्याकुल हो उठता था और कभी-कभी मैं अपने आपको उसके उस सन्देश का जो 'नहीं' में उत्तर दिया था उसके लिए धिक्कारता था, पर संस्कार कुछ अच्छे थे और आत्म-सम्मान का ध्यान भी रहता था कि कहीं ऐसी बात न कर जाऊँ जिससे भाभो और त्रिलोकी की दृष्टि में गिर जाऊँ। इसीलिए अपने मन पर विश्वास न करके उनके घर के अन्दर जाना ही बन्द कर दिया था। भाभो ने

कई बार कहा भी, पर बहुत अधिक व्यस्त होने का बहाना कर दिया और इस तरह अपनी दुष्ट भावनाओं को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया।

इधर चन्दो के ब्याह की बातचीत चल रही थी। बाबू जी ने अच्छी दशा होने पर भी अपनी दो बडी लड़कियों के जो विवाह किये थे वह कल्याण मार्ग अधेडों से ही किए थे। फल स्वरूप एक लड़की का पति तो युवती पत्नी के यौवन लाभ के पुण्य को गाँठ में बाँध कर स्वर्ग को चल दिया था और दूसरी वृद्ध पति के संसर्ग सुख से ऐसी पीतवर्ण होती चली जा रही थी कि शक होता था कि शीघ्र ही पीताम्बर धारी के निकट पहुँच जायगी। इधर जब चन्दो के ब्याह के लिये वर ढूढ़े जाने लगे तो मुझसे और त्रिलोकी से भी राय ली गई। कई जवान और वृद्धों में से चुनना था।

मैंने कहा—"लखपती से लखपती हो, पर उसके साथ चन्दो का ब्याह करना उसे कुएँ में ढकेलने से ज्यादा अच्छा नहीं है। गरीब ही हो, खाता कमाता हो, इसका पट भर सके, तो यह हजार गुनी खुश रहेगी। ऐसा ब्याह करोगी तो मैं शामिल होऊँगा वर्ना तुम जानो तुम्हारा काम जाने।"

त्रिलोकी ने कहा—"बात पक्की है, साहब भी यही राय देता है।"

आख़िर को चन्दो का ब्याह लाहौर में तय हुआ। बारात मे आदमी कम आए, फिर भी उसके ठाट-बाट में कमी न थी, जिसने भी देखा यही अन्दाजा लगाया कि इन लोगों की हैसियत बडी जबर्दस्त मालूम होती थी। वर चन्दो की तरह ऐसा सुन्दर न था, पर उसके गँठे, साँवले शरीर, ऊँची नाक और बडी-बडी आँखों वाले मुह को असुन्दर कोई भी न कह सकता था।

जैसी बारात वालों को आशा थी वैसी उनकी ख़ातिर न हो सकी, उसका कारण यह था कि बाबू ब्रजनाथ के पास इस समय कुछ भी न था

और उनके मुकदमे में अब तक कुछ तय न हो सका था। इधर त्रिलोकी का ज़ोर-शोर देखकर घर वालों को काफी आशा दिखलाई पडने लगी थी कि चन्दो के ब्याह में त्रिलोकी से ही बेड़ा पार होगा, क्योंकि यह आशा ही नहीं सबको पूर्ण विश्वास था कि फिल्म कम्पनी खुलते ही वह हजार बारह सौ तनख्वाह पाने लगेगा। लेकिन समय बीतता चला गया और कम्पनी के पहले जल्से हो जाने के बाद अभी तक उसमें जीवन का सचार न हो पाया था; क्योंकि बाराबङ्की वाले सेठ जी अभी तक रुपया न दे सके थे। इधर चन्दो की बाद, उसकेरूप और यौवनकी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी, इसलिए चाहे कुछ भी न हो समाज अब चन्दो का घर बैठाये रखना न सहन कर सकता था।

इस कठिन समय में त्रिलोकी के कानपुर वाले चाचा जी ही काम आये थे और उन्होंने इतना रुपया बाबू जी को दे डाला था जिससे सादगी से ब्याह निपट सके। बराती लोगों के कुछ न कुछ तो नखरे हुआ ही करते हैं, पर इन लोगों ने हद कर दी थी। दिन भर नई नई फ़र्माइशें किया करते थे, काम करने वाले थे, मैं त्रिलोकी और थोड़ा बहुत प्रकाश। राजू को बहुत थोड़ी छुट्टी मिली थी और वह दिन के दिन ही आ सके थे। वह और बाबू जी घर पर जुटे रहते थे और हम लोग बरातियों की सेवा में रहते थे। ब्याह की रीति-रस्म तो किसी तरह अदा हुई ही, सुदूर पञ्जाब प्रान्त से आये हुए बरातियों को सारा लखनऊ घुमाना पड़ा। इस सब के पुरस्कार मे सुनने को यह मिला कि भगवान न करे ऐसे लोगों के यहाँ किसी की रिश्तेदारी हो जो इतना भी न दे सके कि हमारी और उनकी दोनों की ही इज्जत ढँकी रहती; दूसरे यह भी सुनने को मिला "लखनऊ-लखनऊ बड़ा शोर सुनते थे, पर कुछ समझ ही में न आया कि ऐसी इसमें क्या बात है जो लोग इतना राग अलापते हैं, इससे तो लाहोर लाख गुना अच्छा है।" हम लोगों ने सब इस कान से सुना और उस कान से निकाल दिया।

मन में सोचा 'चाहे लाहौर दुनिया का सबसे बड़ा शहर हो और लखनऊ सबसे छोटा और चाहे बारात बिल्कुल ही भूखी रही हो, पर एक काम जिसके बिना हुये समाज की चूलें हिली जा रही थीं, उसके व्यक्तिक्रम में बाधा पहुँच रही थी, वह हो गया अर्थात् यह कि सात सौ मील पर बसनेवाले दो व्यक्ति—जिन्होंने कभी एक दूसरे को देखा न था—की तकदीरों को एक साथ नत्थी कर दिया गया। उन एक दूसरे से नितान्त अपरिचित व्यक्तियों मे ससार का सबसे निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया। और कुछ थोड़े से मन्त्रों के बल पर यह आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास कर लिया गया कि यह सम्बन्ध चिरस्थायी और आजीवन दृढ़ रहेगा और प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित हो जाने पर भी न तोडा जा सकेगा, घुल-घुल कर मरने पर भी मन ही मन कुढने पर भी उसे अविकल ही रखना होगा।

बिदा का समय आया, वर पक्ष के हृदयो में कन्या पक्ष का सारा उत्साह जाकर इकट्ठा हो गया था, क्योंकि बिदा करवाते समय वे जितने उत्साहित हो रहे थे कन्या पक्ष वाले उतने ही निरुत्साह। वे वधू को घर ले जाते समय फूले न समा रहे थे, पर भेजने वालों के हृदय बैठे जाते थे। स्त्रियों की रीति-रस्मों मे देर पर देर होती जा रही थी और वर महोदय गाड़ी के वक्त की दुहाई दे देकर जल्दी मचा रहे थे। इधर चन्दो की आँखों से आँसुओं का तार बँधा हुआ था, वह घर जिसके एक-एक कण से बचपन की स्मृतियाँ गुंथी हुई थीं, वह व्यक्ति जिनकी स्नेह-छाया मे अब तक का जीवन पालित हुआ था, आज से पराये हो रहे थे और जिन्हें कभी स्वप्न में भी न देखा था, जिनके विषय में कभी सोचा तक न था, अपने होने जा रहे थे।

स्टेशन से बारात को भेजकर हम लोग वापिस लौटे तो कुछ विचित्र सी दशा थी, न उसे सुख ही कहा जा सकता था, न दुख। बारात वालों ने दौड़ा-दौड़ा कर जो पैर तोड़ डाले थे उससे छुटकारा मिलने

पर आज आराम की साँस ज़रूर ली गई थी, पर इतनी व्यस्तता के बाद आज का खालीपन भी खलता हुआ सा मालूम होता था। चन्दो का ब्याह करके जहाँ एक ओर बोझ हल्का होने की बात मन में आती थी, तहाँ अपने परिवार के बीच से खोकर सुख का अनुभव करना कठिन था।

उस वक्त कोई भोजन न कर सका, कुछ देर बरातियों की बुराई हुई, फिर ऐसी लम्बी नींद सोये कि होश ही न रहा। बरात के बाद की नींद तो भला है ही प्रसिद्ध।

१४

चन्दो के ब्याह को कई दिन बीत चुके थे, सब काम अपनी साधारण गति से चलने लगे थे कि एक दिन प्रकाश ने आकर बतलाया कि त्रिलोकी भैये कल से बहुत उदास हैं, यहाँ तक कि कल रात को भोजन भी नहीं किया।

"क्यों क्या बात है?" मैंने अचकचाकर पूछा।

"कल उस बाराबङ्की वाले सेठ ने साफ़-साफ कह दिया है कि उसने सोच विचार कर यही निश्चय किया है कि वह कम्पनी को रुपया न दे सकेगा।"

"तो क्या अकेले उसी के दम पर कम्पनी चलाई जाने को थी?"

"हाँ, लोगों ने यही कहा था कि अगर वह रुपया दे देंगे तो हम लोग भी थोडे-थोड़े हिस्से ख़रीद लेंगे।"

"तो यह कहो कि ख़ास रुपया देने वाला जो था वही टूट गया, तब तो वाक़ई में गडबड हुआ।"

"हाँ और क्या।"

"त्रिलोकी बहुत दुखी है।"

"बहुत ज्यादा।"

त्रिलोकी के पास गया, वास्तव में इस बार उसे बड़ा गहरा धक्का लगा था। उसे प्रसन्न करने के लिये और उसके दुःख को हल्का करने के विचार से मैंने उसे उत्साहित करना चाहा, पर कृतकार्य न हो सका। इस दिन से त्रिलोकी पर से फिल्म कम्पनी का बुखार ऐसा उतरा कि फिर मैं कभी उसकी गर्मी भी उसके शरीर और दिमाग पर न देख सका।

इस प्रकरण को इस प्रकार समाप्त होते देख कर मैं कभी स्वप्न में भी न सोच सका था कि यह बुखार चाहे अब ऊपरी शरीर पर कभी न दिखलाई पड़े पर इसकी गर्मी अभी शरीर के अन्दर बाक़ी पड़ी है और किसी रोज कण्ठमाला क समान वह त्रिलोकी के गले आ पड़ेगी।

त्रिलोकी अब फिर दफ़्र ठीक वक्त से जाने लगा था, जाते वक्त अब न पहले की तरह अनमना मालूम होता था न लौट कर वहाँ के काम मे मन न लगने की बात ही कहता था। अब भूल कर भी वह फिल्म कम्पनी का ज़िक्र अपने मुँह पर न लाता था और किसी के कुछ छेड़ने पर भी बात बदलने की कोशिश करता था अथवा चुप हो जाता था; लेकिन अभी तक कभी-कभी मैं उसे अकेले में बैठे हुए अपनी उन फिल्म के निमित्त लिखी हुई कहानियों को लिए हुए देखता था।

एक दिन दोपहर के समय अकस्मात् ही त्रिलोकी बड़ी जल्दी दफ़्तर से लौट आया। उसकी आँखे डबडबाई हुई थी और वह बहुत ही घबड़ाया हुआ सा मालूम होता था। पैर सीधे न पड़ते थे, साइकिल बदहवासी से चबूतरे के नजदीक खड़ी कर दी और धड़धड़ाता हुआ अन्दर चला गया। ऐसा मालूम होता था जैसे कोई उसके पीछे-पीछे आ रहा हो।

इस दशा मे उसे देख कर मैं भी कुछ परेशान सा हुआ, क्या बात हो गई? कहीं किसी से लड़ाई झगड़ा तो नहीं हो गया? वह

इतना घबडाया हुआ क्यों है ? अन्दर गया तो त्रिलोकी को एक ओर सिर झुकाए हुए बैठे देखा। घर के सब लोग बहुत ही चिन्तित से थे। प्रकाश से पूछा तो मालूम हुआ कि त्रिलोकी के पास दफ्तर में जो सरकारी रुपए रहा करते थे उनमें लगभग सैंतिस-अड़तिस रुपए घट गए हैं।

मैंने पूछा—"कैसे घट गए ?"

उसने कहा—"पहले तो बतलाते ही न थे, फिर बतलाया कि उस सेठ के पास बाराबकी आने-जाने में रुपयों की जरूरत पडने पर अक्सर उसमें से निकाल लिया करते थे और बाद में रख दिया करते थे। जाते तो ये भी थे और इनके मित्र भी, परन्तु जब मतलब न निकलता तो पहले पैसे दे देने वाले के ही माथे पड गए, अब कौन देता है। आज इत्तिफाक़ से हेल्थ आफिसर जॉच करने आ गया, उसने हिसाब मिलाया और जब रुपए कम पाए तो एकदम उबल पड़ा। वह इस मामले में बडा ही सख़्त है, उसी वक्त पुलिस को बुला कर केस उनके हाथों में देने वाला था कि इनके ममेरे भाई जो अस्पताल में डाक्टर थे इनके आड़े आए। उन्होंने बहुत कुछ कह सुन कर हेल्थ अफिसर को इस बात पर राजी किया कि वह पुलिस में केस न दे, यदि त्रिलोकी रुपए घर से लाकर जमा कर दें। उसने इतना तो मान लिया, पर त्रिलोकी को उसी वक्त नौकरी से बर्ख़ास्त कर दिया। यह भी कहा है कि यदि शाम तक रुपया दफ्तर मे जमा कर दिया गया तब तो ठीक है, वर्ना वह पुलिस में केस जरूर दे देगा। अब रुपए किसी भी प्रकार जमा करना है, वर्ना इज्जत जाती है।"

बाबू जी बहुत ही उदास थे और नाराज भी। कहते थे इसने कुल में दाग लगा दिया। अब तक कभी भी ऐसा न हुआ था और मैं सोचता था—"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।" त्रिलोकी ने ही अपने हाथों किसी वक्त कितना खर्च किया था, आज यदि हाथ में आने पर वह दूसरे का

पैसा खर्च कर डाले तो क्या आश्चर्य है। जो आदत पड जाती है उसे दूर करना भी आसान काम तो नहीं है। फिर उच्चाभिलाषा (Ambi. tionsness) की अधिकता भी तो एक दोष है। इसके प्रवाह में भी तो न जाने कितने लोग बह गए। उच्च पद और अधिक धन प्राप्त करने के लिये संसार में कितने पाप हुए हैं। शेक्सपियर के नाटक मैक-बेथ का नायक मैकबेथ इसका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है। वही तो त्रिलोकी से भी हुआ था। हजारों के लाभ की आशा में उसने इतने रुपयों को उठा डाला था और यही उसे ले डूबा।

भाभो और बाबूजी ने किसी प्रकार दौडधूप करके रुपए इकट्ठे किए और वे दफ्तर भेज दिये गए। उस दिन से परिवार की आमदनी का वह ज़रिया (त्रिलोकी की तनख्वाह) भी समाप्त हो गया।

—:o:—

१५

बहुत दिन पीछे की एक बात याद आगई जब कि त्रिलोकी के परिवार के इतने बुरे दिन न थे, पर आर्थिक दृष्टि से कमी शुरू हो गई थी।

उस समय बाबू जी का नौकर चुन्नीलाल बिदा ले जा चुका था और उनके यहाँ कोई नौकर न था। घर के अन्दर का काम औरते कर डालती थीं, पर बाहर के काम के लिये अक्सर छीछालेदर पडी रहती थी, बड़े से लेकर छोटे तक सब एक से दूसरे पर टाला करते थे। इसलिए अक्सर मोहल्ले के नौकरों या लड़कों से भाभो काम के लिये कहा करतीं, पर कभी-कभी ऐसा भी हो जाता कि पैसे होते हुए भी जरूरी से जरूरी चीज न आ पाती। यह बात मुझे बड़ी बुरी मालूम होती थी, मैं सोचता था यह लोग परिस्थितियों के साथ क़दम मिलाकर चलना क्यों नहीं सीख लेते हैं।

इन्हीं दिनों एक रोज सवेरे मैं अपने चबूतरे पर झाड़ू लगा रहा था कि बाबू जी अन्दर से हुक्का लिये हुए निकले और मुझसे बोले—"कितना अच्छा होता यदि हमारे घर के लड़के भी तुम्हारी तरह अपने हाथ से काम करना सीखते !"

मन के भाव को मन ही मे दबाकर मैंने कहा—बाबूजी हिन्दी के एक कवि का दोहा है :—

बढत बढत सपति सलिल, मन सरोज बढि जाय ।
घटत घटत पुनि न घटै, बरु समूल कुम्हलाय ॥

अर्थ समझाने पर बाबूजी बहुत प्रसन्न हुए, कहने लगे "यह तो ठीक है, जब जैसी आदतें पड़ जाती हैं तो उन्हें छोड़ना बहुत ही कठिन होता है, पर भाई यह होना नहीं चाहिये। होना तो यह चाहिये कि जैसी हालत हो, आदमी उसी के हिसाब से रहना सीख ले।"

कहने को तो यह बात बाबू जी कह गए, पर न उन्होंने, न उनके परिवार ने बहुत दिन तक यह बात सीखी, लेकिन त्रिलोकी की नौकरी छूटना, उधर राजू का कुछ न भेजना यह ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे मैंने भी परिवार के ऊपर दूर से ही निराश के उमडते हुए बादलों को देख लिया। अब तक लोगों के लाख समझाने बुझाने पर भी बाबू जी किसी प्रकार का उद्योग करने को तैयार न हुए थे। यहाँ तक कि लोग उनसे नाराज हो गए थे और कहते थे कि जो हाथ पैर नहीं हिलाना चाहता है, काहिली से पडा पडा आराम करना चाहता है उसकी तो ऐसी दशा होनी ही चाहिये। वह तो कौडियों को भी मोहताज हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। उनके कानपुर वाले भाई भी तो इसी कारण उनसे मन ही मन रुष्ट रहते थे।

इधर कुछ दिन से मै बाबू जी को कुछ उद्योग करने की तरफ़ झुकते हुए देखता था। अब वे स्वय ही बाजार से जाकर सौदा ले आते थे। पहले उन्हें दो पैसे का सौदा लाने के वास्ते भी मज़दूर की ज़रूरत

१६

त्रिलोकी का महीने-महीने मनीआर्डर आता और पत्र भी आते रहते, उनमें अक्सर वह मेरे विषय में पूछता रहता था। एक दिन मेरे पास ही उसका पत्र आया। उसमें लिखा था :—

ऐसा मालूम होता है जैसे तुम तो मुझे बिल्कुल ही भूल गए हो, पर मुझे मित्रों में यदि किसी की याद आती है तो तुम्हारी। मैं अपने पत्रों में तुम्हारे विषय में लिखता हूँ और यह मुझे बाबूजी से मालूम होता रहा है कि तुम सानन्द हो। यहाँ मेरे जीवन मे एक ऐसी विशेष घटना हो गई है कि उसे मै तुम्हें लिखे बिना न रह सका। कभी-कभी मनुष्य के हृदय में भावनाओं की इतना तीव्रता हो जाती है कि वह उनका अकेले भार नहीं वहन कर सकता है और उस समय उसे एक ऐसे साथी की आवश्यकता प्रतीत होती है जो उसके इस बोझे के उठाने में थोड़ा सहारा दे सके। एक की भावनाओं का भार दूसरा नहीं उठा सकता, परन्तु दूसरे से कहने से उनकी तीव्रता कुछ कम होती है, इसीलिये मैं तुम्हें यह पत्र लिखने बैठा हूँ।

मैं जिस रास्ते से होकर आफिस जाता हूँ उसी पर रेलवे के एक डाक्टर का बँगला पडता है। आफिस से लौटते समय अक्सर उस बँगले से सुरीले सगीत की अमृत वर्षा होती रहती थी। रोज ही सुनाई देने वाली वह सगीत मन को कुछ ऐसा अच्छा लगने लगा कि छुट्टी के दिन भी उस समय पर वहाँ तक एक चक्कर लगा आने लगा। वहाँ खड़े होने का साहस तो होता नहीं था, पर बहुत धीरे-धीरे चलकर कहीं आगे रुक कर उसे सुनने लगा। सगीत मुझे सदा से ही प्रिय रहा है, यह तो तुम जानते ही हो। इस प्रकार अधिक से अधिक समय तक उस संगीत को सुनने का प्रयत्न करने लगा।

धीरे-धीरे मनमें गाने वाली के विषय में कुतूहल जाग्रत हुआ। वह कैसी है ? कुरूपा अथवा सुन्दरी, यही जानने की इच्छा प्रबल हो उठी। आफिस के एक साथी ने बताया कि वह डाक्टर साहब की लड़की है। घर ही पर काफी अँग्रेज़ी हिन्दी बँगला पढी है। यह सब जानकर उसे देखने की और भी इच्छा हुई, परन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी वह दिखलाई न पड़ी।

एक दिन उसके नाम एक पत्र लिखा—कुछ इस प्रकार का था:—
देवि,

तुम्हें देखा नहीं, सिर्फ कोकिल-कण्ठ से निकलता हुआ सृष्टि के ब्रह्माडों द्वारा विस्तृत अनहद नाद का सा मनोरम सुन्दर संगीत सुना है। कानों के द्वारा वह स्वर हृदय के अन्दर कितना गहरा प्रविष्ट हो गया है, यह मुझे भी पता नहा चल पा रहा है, परन्तु धीरे-धीरे मै उसे अपने हृदय पर अधिकाधिक अधिकार करते हुए देखता हूँ। मानों वह मुझसे इस व्याज से यह कहना चाहता है कि जिस कण्ठ का स्वर इस प्रकार तेरे रोम-रोम में व्याप्त हो गया है, वह ही तेरी आराध्य देवी है। कहीं तुम रुष्ट न हो जाना, ऐसी कोई बात तो है नहीं, मैं तुमसे तो कुछ नहीं माँगता, फिर आराधना और साधना का अधिकार तो कोई किसी से नहा छीन सकता, घोर से घोर परतन्त्रता में भी। हाँ, अपनी आराध्य देवी की कृपा दृष्टि कौन न चाहेगा और वह मैं भी चाहता हूँ, परन्तु यह तुम्हारे हाथ की बात है, मेरा इसमें कोई वश नहीं।

तुम्हारा ही:—
त्रिलोकी

यह पत्र लिख तो लिया, पर इसे उसके पास तक भेजने का साहस न होता था। डर लगता था, कहा ऐसा न हो कि बीच ही मे पकड़ जाय या वही इसे पाने पर बिगड़ उठे और अपने माँ-बाप को दिखला दे और मुझे इस प्रेम करने का मजा चखने को मिले। इसी भय से

आक्रान्त होकर तीन-चार रोज उसे जेब में डाले रहा। एक दिन शाम को फाटक के पास एक लड़की खेलती हुई दिखलाई दी, उसे फुसलाकर बुलाया। पूछा —"यह जो गा रही हैं, तुम्हारी कौन हैं ?"

बालिका बड़ी भोली थी, बोली इतना भी नहीं जानते—"दीदी।"

मैंने कहा—"उन्हें एक कागज दे दोगी ?'

वह बोली—"हाँ हाँ।"

मैंने लिफाफे में बन्द पत्र उसके हाथ में रख दिया उसे देखकर वह बोली—"यह तो चिट्ठी है।"

मैंने कहा—"चिट्ठी नहीं है, कागज है।'

वह बोली—"ठीक है, मैं ही भूली, चिट्ठी तो डाकिया लाता है।"

"इसीलिये मैं कहता था कि यह चिट्ठी नहीं है, कागज़ है। किसी और को मत देना।"

"नहीं, दीदी को ही दूँगी। वह मुझे बड़ा प्यार करती हैं। उनकी चीज़ किसी और को क्यों दूँगी।"—इतना कहकर वह अन्दर की तरफ दौड़ गई।

मैं वहाँ से जल्दी-जल्दी चला आया। उस वक्त से बराबर मन आशंका से भरा रहा। कहीं किसी और ने पत्र उससे न ले लिया हो। कहीं उसने सब के सामने जाकर वह पत्र न दे दिया हो। इसी प्रकार न जाने जितनी शकाएँ मन में आती रहीं। उस दिन दफ़्तर से जानबूझ कर अकेला आया—शायद पत्र का उत्तर मिले। फाटक के पास वही लडकी खडी मेरी राह देख रही थी, उसने मेरे हाथ में एक तह किया हुआ लिफाफा रख दिया। फिर मुँह पर उँगली रखती हुई मुझसे बोली—"किसी से कहना नहीं।" मैं समझ गया, यह उससे कहा गया है—इसीलिये वह मुझसे कह रही है।

पत्र हाथ में पाते ही मेरा हृदय धडकने लगा। पता नहीं इसमें क्या लिखा है, इच्छा तो अमृत की है, पर यह भी तो हो सकता है कि

विष उगला गया हो। आगे बढ़कर उसे खोला। भाषा जैसी बंगाली लोग हिन्दी लिखा करते हैं, वैसी ही थी मात्राओं की जहाँ-तहाँ अशुद्धि, परन्तु मुझे वह पत्र कितना हृदयग्राही और मोहक मालूम हुआ, इसका मैं तुम्हें वर्णन नहीं लिख सकता, अनुभव करने की चीज है, लिखने-पढ़ने की नहीं। पत्र का आशय कुछ यों था :—

ऐ अनजान,

किसी के ऐसे पत्र का उत्तर देने का यह मेरा पहला अवसर है। मेरी नीति यह है कि ऐसे पत्रों का उत्तर मौन से ही देना चाहिये, परन्तु इस बार मैं यह न कर सकी। मुझे अपनी कमजोरी स्वीकार करनी पड़ेगी, न जाने इस पत्र में ऐसा क्या था कि मैं इसे पाकर मौन न धारण कर सकी, यद्यपि पत्र का बहुत-सा भाग और उसका आशय भी मैं न समझ सकी। मुझे इसलिये कहना ही पड़ेगा कि आपका यह पत्र भेजना व्यर्थ ही रहा।

अनजान की
देवी

पत्र पढ़कर मैं उछल पड़ा। कौन कहता है मेरा पत्र भेजना व्यर्थ रहा। मुझे पहले ही प्रयत्न में जितनी सफलता मिली है उतनी तो बड़े-बड़े भाग्यवालों को भी न मिलती होगी। अच्छा ही है मेरे पत्र का आशय न समझा गया, इस बार मैं दूसरा लिखूंगा—आशय स्पष्ट करने के लिये और उस स्पष्टता में भी इतनी गूढ़ता होगी कि दूसरे पत्र की आवश्यकता पड़ेगी और एक बार इस श्रृङ्खला के लग जाने पर इसके दोनों छोरों का एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाना आवश्यक ही है—यही मैं सोचता रहा। इसी नीति को मैंने कार्यरूप में परिणत भी किया और इस समय हमारा पत्र-व्यवहार काफी तेज और जोर पर है। मेरा तो भाई अब यही ख्याल है, तुम मानो चाहे न मानो कि दोनों तरफ है आग बराबर लगी हुई। मजे की बात यह है कि इस चीज को शुरू हुए

अब लगभग तीन महीने हो गए हैं, परन्तु अब तक मुझे अपनी आराध्य-देवी के दर्शन नहीं हुए हैं, यद्यपि मैं कई बार लिख चुका हूँ। मैं इससे निराश नहीं होता, वह दिन भी आयेगा।

कितना लिखता चला गया। पत्र न हुआ शैतान की आँत हुई, पर सच यह है कि इस विषय पर मै अब पोथे पर पोथे लिख सकता हूँ। सुना है किसी फारसी के कवि के पास जो कविता सीखने जाता था उससे वह कहता था कि जाकर किसी से प्रेम कर आओ तब कविता आएगी। मै भी प्रेम करके कवि हो गया हूँ, क्या इसका आभास तुम्हें मेरे इस पत्र से नहीं मिलता।

आशा है तुम उत्तर दोगे।

तुम्हारा स्नेहाकॉक्षीः—
त्रिलोकी

आदर्शवादी जैसा इस पत्र का उत्तर दे सकता था मैंने वैसा ही दिया परन्तु त्रिलोकी ने वह राग अलापना न छोड़ा, वह जब पत्र लिखता इस विषय में ही अधिक उत्साह से लिखता। यहाँ तक कि मेरे हृदय में भी उसकी आराध्य देवी की सभ्यशिक्षित और संस्कृत होने की बात जम गई। ऐसा सच्चा प्रेम करने वाली के प्रति मेरे मन में एक सद्भावना उत्पन्न हो गई। त्रिलोकी को भी इस प्रेम के लिए मेरे मन ने पापी समझना छोड़ ही सा दिया।

—०—

१७

एक दिन भाभी ने मुझे बुलाकर कहा—"भैये, तुम अपने घर ही के आदमी हो, तुमसे क्या छिपाऊँ, मैं तो तुम्हारे इस दोस्त से बड़ी परेशान हूँ।"

मेरे दोस्त का मतलब त्रिलोकी था। इधर जब से त्रिलोकी नौकर हो गया था और मनीआर्डर भेजा करता था, मैं अक्सर भाभी से कहता, "देखो, आखिर मेरा दोस्त राजू भैये से अच्छा ही रहा कि नहीं। हर महीने अपनी पूरी तनख्वाह भेज देता है।" और उन्हें यह बात माननी पड़ती, पर आज उनकी बात सुनकर मुझे शक हो गया कि कुछ दाल में काला है। मैंने कहा—"क्यों, बात क्या है?"

वह बोली—कल राजू का ख़त आया है, त्रिलोकी वहाँ भी ठीक से नहीं रह रहा है। उसने वहाँ के किसी बँगाली डाक्टर की लड़की को चिट्ठी लिखना शुरू किया है और यह बात खुल गई है। राजू ने लिखा है कि मेरी इज्ज़त पर बन आई है, छोटी सी जगह, जहां जाओ, वहां यही चर्चा और अगर यही हाल रहा तो शायद नौकरी पर भी बन आवें। त्रिलोकी को नौकरी से अलग करने का हुक्म आ रहा था कि मैंने उससे इस्तीफा दिलवा दिया। अब उसे यहां कोई भी नौकरी मिलना असम्भव है, खाली बैठेगा तो वह कुछ न कुछ गड़बड करेगा। इसलिये मेरी आपसे प्रार्थना है कि मेरी इज्ज़त के नाम पर उसे यहाँ से फौरन बुलवा लीजिये। तुम्हारे बाबू जी ने सवेरे ही तार दे दिया है, देखो शायद कल तक त्रिलोकी आ जाय। अब तुम बताओ यह कोई भले मानुषों के काम हैं। किसी की बहू बेटी को चिट्ठी-पत्री लिखना। वह यहाँ आयेगा, यहाँ भी कुछ करेगा तो हम लोग तो कहीं मुंह दिखाने लायक़ न रह जायँगे। अच्छे भले नौकरी में लगे हुये थे, चार जनों की रोटी चलती थी अब उसका भी ठिकाना न रहा। अब तुम बताओ मैं क्या करूँ।

मैं इसका क्या जवाब देता। वास्तव में त्रिलोकी की नौकरी छूटना बहुत बुरी चीज़ हुई है, क्योंकि बाबू जी अभी तक ज़मीन आसमान के कुलावे ही मिला रहे थे, कोई काम उन्होंने न शुरू किया था और अब परिवार की रोटी का प्रश्न कैसे हल होगा यह एक बड़ी टेढी समस्या

थी। त्रिलोकी का प्रेम चाहे वह पवित्र से पवित्र रहा हो और चाहे अपवित्र से अपवित्र--परन्तु उसका यह फल बडा ही दुःखद रहा।

दूसरे ही दिन त्रिलोकी लखनऊ आ गया। बाबू जी उससे कुछ न बोले और वह भी दिन काटने लगा। मैंने पूछा तो बोला—"दफ़्तर के एक और बाबू ने भी उसे ख़त लिखे परन्तु उसने जवाब न दिया। इसी बीच में मेरे पास उसके पत्र आते हैं, इस बात का उसे कहीं से पता लग गया, उसने दफ्तर के बड़े बाबू से कहा, और लोगों से भी कहा, इस तरह बात फैल गई। डाक्टर साहब ने महीने भर की छुट्टी ले ली और वह अपने घर दरभङ्गा चले गये हैं। सुना है अब अपनी बदली करा लेंगे केम्पियरगञ्ज नहीं आवेंगे।

एक दिन मैं घर में नहा रहा था तो बाहर कुछ तेज बातचीत की आवाज़ सुनकर बाहर आया। देखा बाबू जी और उनके मकान मालिक के लडके से बातचीत हो रही थी। मामला यह था कि बाबू जी पर मकान का किराया लगभग तीन चार सौ रुपये चढ गया था और वे आगे भी हर महीने किराया न दे पाते थे। बाबू जी के मकान मालिक एक रईश वृद्ध आदमी थे, सभ्य और उदार। काफी जमींदारी थी और बहुत से मकान थे जिनका किराया आता था। बाबू ब्रजनाथ किसी वक्त काफी शान से इसी मकान और मोहल्ले में रहते थे। मकान मालिक का किराया बाकी होने की तो बात ही क्या जरूरत पडने पर वे लोग पेशगी भी मँगा लिया करते थे। वृद्ध मकान मालिक इस बात को समझते थे कि बाबू जी किस परिस्थिति में पड़ गये हैं इसलिये वे न कभी किराये का सख्त तगादा करते थे, न उनसे छोडने को ही कहते थे। वे सोचते थे—मेरे हाथ से क्या निकला जा रहा है, यदि आज इन्हें मकान से निकाल दूं तो ये आफत में पड जायेंगे। कौन इनकी मुरव्वत करेगा। बाल बच्चों को लेकर कहाँ रहेंगे जाकर बेचारे। वृद्ध मकान मालिक के हृदय में तो इतनी गुञ्जायश थी पर उनके लड़कों को इतना सब्र कहाँ! उधर

वृद्ध बीमार पड़े, लड़के काम काज देखने लगे, इधर बाबू जी पर तगादे पर तगादे आने शुरू हो गये। बेचारे बाबू जी क्या करते उनके हृदय में बेइमानी न थी पर उनके पास इतना पैसा न था कि घर के सब प्राणियों का रोज दोनों वक्त पेट भर सकें तब किराये सत्रह-अट्ठारह रुपये कहाँ से लाते।'

उस वक्त भी यही गड़बड़ था। मकान मालिक का लड़का जो पहले बहुत ही सभ्यता का बर्ताव बाबू जी के साथ करता था, इस वक्त उनसे लाल-पीली आँखें करता ही चला जा रहा था। उसने तड़क कर कहा—"आप एक दफे साफ-साफ यह कह दीजिये कि मैं किराया नहीं दूंगा, तो हम भी रोज़-रोज के तगादे करने से छुट्टी पाएँ। सब्र करके बैठ जायँ।"

बाबू जी ने कहा—"जब मैं देना चाहता हूँ तो कह कैसे दूं कि मैं दूंगा नहीं। मेरे पास रुपया आवे तैसे ही मैं आपका किराया अदा करूँगा।"

"अच्छा यही बतला दीजिये कि आप कब देंगे? आज चार जनों के सामने यहीं तय हो जाय। मैं उसी दिन आप से माँगूगा, उसके पहले आप से न माँगूँगा। अभी तक तो बहुत से वायदे आपने किये लेकिन एक भी पूरा न हुआ। अब आज सब लोगों के सामने ही तय हो जाय।"

बाबू जी बेचारे बहुत बुरे फँसे थे। उनकी कभी इतनी बेइज़्ज़ती न हुई थी क्योंकि यह बात-चीत मुहल्ले के सभी लोगों के सामने हो रही थी जो शोर सुन कर अपने घरों से निकल आए थे। उन्होंने कहा—"मैं कोई ठीक वायदा नहीं कर सकता, क्योंकि मुझे कुछ ठीक पता नहीं है, कब मुझे रुपया मिलेगा।"

"अच्छा अब आप इस पर आए। अब तक वायदे करते थे, आज वह भी नहीं। सच तो यह है कि आपको रुपया मिलना ही कहाँ

से है, जो आप वायदा करें।"

बाबू जी पहले एकदम जाने क्या कहने को हुए फिर चुप रह गए। शर्म से उनका चेहरा लाल हो गया और उन्होंने सिर झुका लिया।

"अच्छा, आप मेरे साथ आइये।"—बाबू जी उसके पीछे सिर झुकाए उसी तरह चल दिये।

मुझे उन पर दया आ रही थी और जितने लोग खड़े थे सभी को उनकी इस दशा पर दुःख हो रहा था। एक सज्जन बोले—"एक वह दिन था इनका और एक आज है—ईश्वर की मर्ज़ी वह जो चाहे दिखाए।"

मैं उस न्यायकारी ईश्वर की ही बात सोचने लगा जिसने एक व्यक्ति को इतने मकान दे रखे हैं कि वह उन्हें मनमानें किराए पर चलाए और ऐश करे, जब तक चाहे जिसे रखे और न चाहे तो शरीफ-से शरीफ आदमी को पेड़ के तले बैठने पर मजबूर कर दे; दूसरे व्यक्ति को उसने इतना भी न दिया कि वह अपने बाल बच्चे और इज्जत बचाए बैठा रह सके। तभी मेरे मन ने विद्रोह किया, यह कल्पित ईश्वर को मनुष्य ने ही अपनी बुद्धि से कल्पित शक्तियाँ दे रखी हैं वर्ना उसकी इन बातों में नहीं चलती। यह सब मनुष्य का ही किया हुआ है। एक अपनी चालाकी और काइयाँपन से धनवान हो बैठा है, और दूसरा उसका सा चतुर न होने के कारण उसी के सामने गिडगिड़ाता और खीसे निपोरता है। यह बहुत दिन नहीं चलता है, एक मनुष्य दूसरे का अत्याचार न सहन कर सकेगा और शीघ्र ही वह दिन आएगा जब यह न होगा कि एक मलाई खाए और दूसरा सूखी रोटी को तरसे। सब अपनी आवश्यक वस्तुएँ पाएँगे और एक दूसरे से बराबरी का बर्ताव करते हुए जीवन बिताएँगे। तब यह लूट-खसोट न होगी।

मैं न जाने कितनी देर यही सब सोचता खड़ा रहता कि बाबू जी

की आवाज़ सुनाई दी। पड़ोसी सज्जन के पूछने पर वह उनसे कह रहे थे—"जितना बाकी किराया था उसका प्रोनोट लिखवा लिया है और महीने भर के अन्दर मकान खाली कर देने को कहा है।"

—०—

१८

जिस दिन त्रिलोकी सामने वाला मकान छोड कर दूसरी गली में जा बसा—मुझे बहुत खाली-खाली मालूम हुआ। ऐसा मालूम होता था जैसे इन लोगों के बिना रह सकना कठिन होगा। उस दिन, दिन भर में उनके यहाँ चार बार गया। आँख के ओट हो जाने पर मालूम हुआ कि इन लोगों के साथ हृदय ने कितना गहरा स्नेह-सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। कुछ दिन यह भावुकता का ज्वर रहा, पर धीरे धीरे वह उतरने लगा। जिनका जीवन-संघर्ष जोरों पर चल रहा है, जिन्हें रोज़ कुआँ खोदना और पानी पीना है उन्हें किसी प्रकार की भी बीमारी अधिक दिन नहीं घेर सकती–न मानसिक–न शरीरिक, वर्ना भूखे मरने की नौबत आ जाय। धीरे-धीरे दिन ही नहीं, हफ़्ते भी बीत जाते और मैं उनके यहाँ नहीं पहुँच पाता। विस्मरण शक्ति प्रकृति ने मनुष्य को कितनी मूल्यवान् प्रवृत्ति दी है, वर्ना वह बिछुडने वाले और मरने वाले के विरह में रो-रो कर प्राण दे देता, संसार का सारा कर्तव्या-कर्तव्य यों ही का यों ही पडा रह जाता। मैं भी अपने काम काज में लगकर उन लोगों के अभाव को भूलने लगा।

एक दिन त्रिलोकी सवेरे ही सवेरे आया। साथ में एक और सज्जन भी थे, साथ में सूटकेश और बिस्तरा वगैरह था, मालूम होता था अभी कहीं बाहर से चले आ रहे हैं। त्रिलोकी निःसंकोच कमरे में चला आया और मज़दूर से बोला—सामान यहीं रख दो। फिर हम दोनों का परिचय नाम और अपने मित्र बताकर किया। मुझे आँखों से इशारा

किया, तो मैं अन्दर चला गया। बोला "पहचाना ?"

"नहीं तो।"

"यह तुम्हारा साला है।"

"यानी ?"

"अभी भी नहीं अक़्ल में आया, यह उन केम्पियरगञ्ज वाली देवी के बड़े भैया हैं।"

"जीते रहो"—मैंने कहा—"और इन्हें बुलाया यहाँ किसलिये है ?"

"अपनी मौत का कोई न्योता भेजता है ? वह तो अपने आप ही चली आती है।"

"तो यह मौत का सदेशा लेकर आये हैं ?"

"मामला क़रीब-करीब उतना ही गम्भीर समझो। आप ब्याह का सन्देश लेकर बाबू जी से बात करने आए हैं। मैं कहता हूँ कितने बेवकूफ़ हैं यह लोग, मामूली रोमॉस को शादी ब्याह के लायक गम्भीर चीज़ समझ बैठे हैं।"

"अब अच्छे फँसे हो बच्चू"—मैंने कहा।

"अब तुम्हीं बताओ अगर यह बात बाबू जी के कान में पड़ जाय तो मौत का सामान पक्का है या नहीं। जहाँ तक याद पड़ती है कभी उन्होंने मुझ पर क्या अपने किसी बच्चे पर हाथ नहीं उठाया है, पर यह जानता हूँ कि जिस दिन उठाएँगे उस दिन उठकर पानी पीने लायक़ भी नहीं रह जाऊँगा।"

"तो यह क्या तुम्हारे घर पहुँचे थे ?"

"नहीं भाई इतनी ही तो खैर हुई। परसों इनकी चिट्ठी आई थी कि मैं लखनऊ आ रहा हूँ, आपके पिता जी से मिलना चाहता हूं। इस लिये मैं स्टेशन पर पहुँच गया और यह बतलाकर कि आजकल घर मे कोई नहीं है, एक विवाह में चले गए हैं, सिर्फ मैं ही रह गया हूं—यहाँ

ले आया हूँ।"

"तो आखिर इस तरह कब तक कुल्हिया में गुड फूटेगा ?"

"भाई, जब तक कुल्हिया स्वय फूट कर अपनी असमर्थता नहीं प्रगट कर देती, तब तो यों ही फूटेगा वर्ना फिर देखा जायगा।"

"अच्छा, इन लोगों को यह बात मालूम कैसे हुई ?"

"बात यह हुई कि इन लोगों ने देवी का एक बडी अच्छी जगह ब्याह ठहराया, और सब कुछ बताकर जब उसकी सम्मति पूछी तो उसने कहा—"मैं तो अपना पति चुन चुकी हूँ, यदि मेरा विवाह होगा तो उन्हीं से होगा, वर्ना न होगा।" पूछने पर निःसकोच होकर मेरा नाम पता भी बतला दिया। कुछ दिन तो उन लोगों ने यह समझकर टाला कि शायद अभी नई-नई बात है इसलिये इतना आवेग है, आगे दूर रह लेने पर और अच्छा सम्बन्ध पाकर अपनी सम्मति दे देगी, पर उनका यह अनुमान गलत निकला। सख़्ती की गई तो उसने आत्म-हत्या करने का प्रयत्न किया, तब यह लोग घबड़ा गये और उसकी ही बात मानने पर तैयार हो गये। कुछ दिन पहले इनके पिता जी की चिट्ठी आई थी। बड़े रोआब से लिखी गई थी। लिखा था:—मैं समझता हूँ आपने इस विषय की इस गभीरता को समझकर ही क़दम बढाया होगा और यह वैसा खिलवाड और सस्ता प्रेम न होगा, जैसा आजकल के नवयुवक भोली-भाली लडकियों को पाकर किया करते हैं। आपने इस विषय में कहाँ तक सोचा है, यह मैं जानना चाहूँगा।

मैं जवाब क्या देता। सच तो यह है कि मैं यह न समझता था कि बात यहाँ तक पहुँचेगी, वर्ना कभी ऐसी गलती न करता। सोचता था ऐसे ही एकाध बार दर्श-सपर्श हो जायगा और फिर वह अपने रास्ते और मैं अपने—जैसा आजकल अधिकतर रोमास में होता है सो तो कुछ न हुआ, ब्याह की तैयारियाँ होने लगीं ?"

"तो क्या अभी तक दर्शन नहीं हुए ?"

"नहीं दर्शन तो जिस दिन वह लोग केम्पियरगञ्ज से जाने वाले हुये, उस दिन दूर से हुये, पर और कुछ नहीं।"

"यह बहुत अच्छा हुआ"—मैंने कहा—"तुम लोग बहुत इधर-उधर किया करते हो। दो-चार को ऐसी लड़कियाँ और ऐसे ही अविभावक मिल जायँ तो लोग इस ओर भी समझ बूझकर क़दम उठाया करें। प्रेम अन्धा होता है, कहना छोड़ दें।

"चुप रह यार, तुझे तो चाहिये कि मुझसे सहानुभूति कर, सो तू जले में नोन छिड़कता है खरी-खोटी सुनाता है।"

"सहानुभूति का क्या सवाल है? कौन तुम्हारे ऊपर मुसीबत पड़ी है! पढी, लिखी, चतुर, गाने-बजाने वाली पत्नी मिली है, ब्याह करो और आनन्द करो।"

"वाह बेटा वाह, क्या मज़े में कह दिया, ब्याह करो और आनन्द करो, खाओ-खिलाओ क्या पत्थर! बाबू जी तो उस दिन से घर में पैर रखने नहीं देंगे।"

"न रखने देंगे न रखने दें, ससुर जी से कहना कोई नौकरी दिला दें, अलग लेकर रहना।"

"इतना पक्का मैं नहीं हूँ भाई। जिन्होंने इतना बड़ा किया, उनसे सम्बन्ध तोड़कर अलग रहूँ। कुछ पढा-लिखा होता तो वह विचारे भी कहीं नौकरी दिलाते। मेरे लिये वह भी क्या कर पावेंगे।"

"इस वक्त तो बड़ी समझदारी की बात-चीत कर रहे हो, पहले ही यह सोच लिया होता तो इतनी परेशानी न होती।"

"बस, यही तो ग़लती हो गई। अच्छा यह तुम्हारे जो मेहमान आए हैं, इनके नहाने-खिलाने का प्रबन्ध। मैं कोशिश यही करूँगा कि यह जल्दी से जल्दी यहाँ से खिसकें।"

उन महोदय को नहलाया, खिलाया। वेचारे बड़े ही सीधे आदमी थे। बात-चीत या चाल-ढाल से किसी प्रकार की चालाकी या चतुरता

नहीं प्रगट होती थी। उन्होंने मुझसे त्रिलोकी के विषय में भी तो कुछ नहीं पूछा, जिस विषय में उत्सुक होना बिल्कुल ही स्वाभाविक था। दोपहर को वे चले गये।

—०—

१६

"कहाँ भागे जा रहे हो प्रकाश?"

"ज़रा मण्डी तक जा रहा हूँ भैये, त्रिलोकी भैये शाम की गाड़ी से बनारस जा रहे हैं, उनके लिये रास्ते के वास्ते खाना बनेगा, सो तरकारी लेने जा रहा हूँ।"

"बनारस क्यों जा रहा है त्रिलोकी?"

"ऐसे ही, कहते हैं बड़ी बेबे (बहन) को बहुत दिन से देखा नहीं है, उन्हीं के पास जा रहे हैं। कोई उनका दोस्त टी० टी० जा रहा है, कहते हैं उसी के साथ जा रहे हैं।"

"कब तक लौटेगा कुछ मालूम है?"

"चार-छः रोज में कह रहे हैं।"

कुछ दिनों बाद एक रोज़ न जाने क्या चीज ख़रीदने जा रहा था, पार्क के बीच से निकला। देखा एक तरफ़ बिल्कुल एकान्त में सिर झुकाए हुए बैठा हुआ त्रिलोकी विचार-मग्न है। चेहरे पर नज़र पड़ते ही मालूम हो जाता है जैसे कुछ बड़ा परेशान है।

मैंने कहा—"तुम कब लौटे बनारस से जी? अब तो न कहीं जाते

वक्त पता दो, न आओ तो मालूम हो। रामभण्डार की गुझियाँ सब अकेले ही अकेले खा गए ?"

"तुम्हें तो यार हर वक्त ठठोली ही सूझती रहती है।"

"और तुम क्यों मोहर्रमी बने रहते हो ?"

"यहाँ अपनी मुसीबतों से ही छुट्टी नहीं मिलती है।"

"ऐसी क्या मुसीबत आ पडी तुम पर ? तुम तो अच्छे भले सैर करने बनारस गए थे।"

"बनारस नहीं ख़ाक गए थे।"

"भाई, मुझे तो उस दिन प्रकाश मिला था, उसने यही बतलाया।"

"उसने तो ठीक ही बताया, घर में यही बताकर गया था।"

"अच्छा ! अब यह हरकतें भी आप करने लगे हैं, बनारस बता के गए कहाँ थे आप।"

"दरभङ्गा।"

"अच्छा, यह बात है। वहाँ कैसे गए ? और क्या बात चीत रही, बताओ ज़रा ठीक से।"

"आपको भी काफी दिलचस्पी है इस मामले से। लीजिये सुनियेः—डाक्टर साहब की एक चिट्ठी आई कि आप जल्दी से जल्दी एकबार दरभङ्गा आइये, आप से कुछ बातचीत करना चाहता हूँ। मैं उस पत्र को गोल कर गया। उसके बाद एक मनीआर्डर आया जिसमें लिखा था, आपके आने के लिए ख़र्च भेज रहा हूँ, आशा है आप शीघ्र ही आवेंगे। कुछ बहुत जरूरी बात-चीत आपसे करना चाहता हूँ। यदि छः-सात दिन में आप न आए तो मैं स्वयं ही अपनी पुत्री सहित आपके यहाँ आऊँगा। अब भाई, मैं घबडाया। मैंने सोचा कहीं वह महोदय देवी जी को लेकर हाज़िर हो गए, तब तो इज्ज़त और शराफत में चार चाँद लग जायँगे। बाबू जी का ध्यान आता तो रोंगटे खड़े हो जाते। दूसरे दिन देवी जी का भी पत्र आया। लिखा था—यदि तुमने

मुझसे वास्तव में प्रेम किया है तो इस प्रेम के नाते एक बार आकर पिता जी से मिल जाओ। यदि तुमने मेरी इतनी बात भी न मानी तो समझ लूगी कि तुमने मुझसे-खिलवाड़ किया था और मेरी ग़ल्ती थी कि मैं उसे सच समझ बैठी। यह नहीं कि इसके बाद तुम्हें हृदय से निकाल सकूगी, पर फिर तुमसे न कभी कुछ आशा करूँगी न कोई सम्बन्ध रखूगी।

मैं मन में सोचता था कि चाहे मैंने इस बात को खिलवाड़ न समझा हो, पर निःसन्देह यह भी न समझा था कि परिस्थिति इतनी गभीर हो जायगी। ख़ैर, साहब घर में बनारस जाने का बहाना किया और दरभङ्गा पहुँचा। पत्र डाल दिया था, डाक्टर साहब और उनके सुपुत्र दोनों ही स्टेशन पर आए और आदर सहित मुझे घर ले गए। शाम हो रही थी। खाना-पीना हुआ, बड़ा ही आयोजन पूर्ण।

इस बीच में एक बार भी देवी के दर्शन न हुए। मेरे नेत्र उसी को खोज रहे थे। भोजन के बाद बातचीत होने लगी। डाक्टर साहब ने कहा—"अब ज़रा मतलब की बातचीत हो जाय, मैं आप से स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहता हूँ कि आपने जो देवी को पत्र लिखे और यह प्रेम व्यापार चलाया, इस विषय में आप गम्भीर हैं अथवा नहीं?"

डाक्टर साहब की बातचीत के ढंग से मैं समझ गया कि वे दुनिया देखे हुए तजुर्बेकार आदमी हैं, अपनी नौकरी के सिलसिले में ही न जाने कौन-कौन घाट का पानी पिया होगा—इनसे मैं पार न पा सकूगा। उनके प्रश्न का उत्तर मन में चाहे जो कुछ मैं समझता होऊँ, पर उनसे कहना तो वही था जिस उत्तर की वे आशा करते थे। मैंने कहा—"गम्भीर क्यों नहीं हूँ।"

"तब आपको इससे विवाह करने मे तो कोई आपत्ति न होनी चाहिये?" एकदम उन्होंने पूछा।

मैं उनकी बेतकल्लुफ़ी देखकर एकदम अचकचा गया। यह न

जानता था कि यह महाशय इतनी जल्दी खुल जायँगे। अब उनकी हाँ में हाँ मिलाने से बहुत जल्दी चित्त हो जाने का अन्देशा था। उनकी सामर्थ्य का अनुमान कर ही चुका था फिर भी ज़ोर लगाया। मैंने कहा—"क्या सारे प्रेम-सम्बन्धों का अन्त विवाह में ही हुआ करता है? और क्या ऐसा होना आवश्यक है?"

मेरे प्रश्न पर वे चौंके। मन में सोच रहे थे कि अब यह पीछा छुड़ाने का प्रयत्न कर रहा है। वे कुछ तेज हो गए, बोले—"महाशय, यह हिन्दुस्तान है, योरोप नहीं। यहाँ का समाज प्रेम के लिये प्रेम करने की अनुमति नहीं देता। यहाँ यदि प्रेम का अन्त विवाह में नहीं होता तो वह बदनामी का बायस होता है और लडकी का तो इससे भविष्य ही बिगड़ सकता है। आपके पीछे हटने के मायने मैं यह भी तो निकाल सकता हूँ कि आप का प्रेम इतना दृढ नहीं है कि आप अन्य जाति में विवाह करने के लिये तैयार हों।"

"आपके मतलब निकाल लेने के मायने यह तो कदापि न हो जायँगे कि वह बात मेरे मन में भी है, क्योंकि प्रेम परिस्थितियाँ नहीं देखता है, पर विवाह के लिये परिस्थितियों की अच्छी तरह जाँच पड़ताल कर लेना ज़रूरी है। सच बात यह है कि मैं सामाजिक कठिनाइयों से ज़रा भी नहीं घबड़ाता, न इसका डर है कि घरवाले साथ न देंगे। मेरे विवाह से पीछे हटने का कारण मेरा ख़ाली होना है। मैं जब तक कहीं कोई पक्का आमदनी का जरिया न कर लूँ, विवाह करना अच्छा नहीं समझता।"

"आपने बात बहुत ठीक कही है। मुझे प्रसन्नता है कि आप अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं, पर मेरी भी एक बात सुनिये। आप विवाह कर लीजिये। जब तक आप अच्छी तरह कमाने न लगें, मैं आपको कभी भी मजबूर न करूँगा कि आप देवी को ले जायँ। पाँच साल, दस साल, पन्द्रह बल्कि जब तक मैं और मेरा लड़का जीवित है, आप यह

भार उठाने को विवश न किये जायँगे। फिर यह नौबत ही क्यों आवेगी, बहुत आशा है कि शीघ्रातिशीघ्र आपके लिये कोई अच्छा काम मिल जायगा।"

"आप की बडी कृपा है जो आप ऐसा कह रहे हैं। पर मेरे लिये यह कहाँ तक उचित है कि मैं विवाह करके आपके माथे उन्हें छोड दूँ।"

"मेरी धृष्टता क्षमा कीजियेगा, पिताजी, बाँधें बाजारें नहीं लगतीं"—कहती हुई देवी ड्राईङ्ग रूम के दरवाज़े पर आ खड़ी हुई। क्रोध की तेजी के कारण उसका तमतमाया हुआ मुख मुझे बहुत ही आकर्षक लगा। बंगाली होते हुए इन लोगों का हिन्दी बोलना तो देखकर मैं आश्चर्यान्वित था। किताबी हिन्दी यह लोग न बोलते थे। सयुक्तप्रान्त में रहने और सदैव बोलते रहते रहने के कारण इन्होंने बोली पर इतना अधिकार पा लिया था।

"यदि वे विवाह नहीं करना चाहते हैं, तो आप उन्हें क्यों मजबूर करते हैं। विवाह हो ही जायगा, यह सोचकर मैं इस ओर नहीं अग्रसर हुई थी।"

डाक्टर साहब के मुँह से एक ठण्डी सास निकल गई। वे और उनका लड़का उठ खड़े हुए।

मैंने कहा—"डाक्टर साहब मैं विवाह के लिये प्रस्तुत हूँ।"

डाक्टर साहब मेरी ओर घूम कर खड़े हो गए। उनका मुख प्रसन्नता से दीप्त हो गया।

देवी ने फिर तेज़ी से कहा—"कोई आवश्यकता नहीं है। आप यह सोच कर कि आपके इन्कार करने से मैंने अपने आपको अपमानित समझा है, या मुझ पर किसी प्रकार की दया करके आप विवाह के लिये तैयार न होइये, इस प्रकार का सम्बन्ध सुखद न होगा और मैं इसके लिये तैयार नहीं।"

डाक्टर साहब का सिर कुछ झुक गया और वे ड्राइंग रूम से चले गए।

कमरे में अब सिर्फ मैं और देवी थे। देवी अभी तक उसी मुद्रा में थी, मालूम होता था, तलवार निकाले हुए खडी हैं। मैं आराम कुर्सी पर अधलेटा हुआ उस मुख की ओर देख रहा था। ऐसा सौन्दर्य तो न था कि एक खत्री लडका अपने आप को इस चुनाव के लिये बधाई देता और यदि उन सब कठिनाइयों की ओर देखने लगता जो इस सम्बन्ध से आगे पडनेवाली थीं—तब भी बड़ा मँहगा सौदा था, पर मेरे मन में इतनी नाप तौल की उस समय गुंजायश न थी। मुझे देवी के मुख का वह लावण्य काफ़ी आकर्षक लग रहा था। थोडी देर मैं देखता रहा, फिर कहा—"यहाँ आओ, बैठो।" कुछ सुना ही नहीं गया मानों। कई बार कहा, कोई असर न हुआ. तब उठकर हाथ पकडकर अपने साथ ही आराम कुर्सी पर बैठाल लिया। अब तक क्रोध में तमतमायी हुई थी, कुर्सी पर बैठते ही वह रोने लगी और वह भी ऐसे वैसे नहीं, सिसक-सिसककर मानों उसका हृदय ही निकल जायगा।

उसे इस प्रकार रोते देखकर मैं 'किं कर्तव्य विमूढ' हो गया। मनाने की क्रिया अब तक न सीखी थी। अपने छोटे भाई बहनों को कभी-कभी जरूर चुप करना होता था, पर वहाँ मेरी समझ में उतने बड़े कलाकार की आवश्यकता न थी। इतना मेरी समझ में आया कि यदि मैं यह सिद्ध कर दूँ कि उसका रोना निर्मूल है तो सफलता मिलने की आशा है। मैंने कहना शुरू किया—"देखो, तुमने मुझे और मेरी बात दोनों को गलत समझा है। तुम्हारा यह समझना कि मैं तुमसे विवाह नहीं करना चाहता हूँ, बिल्कुल ग़लत है। सच तो यह है कि मैं तुमसे विवाह करने के लिये व्याकुल हूँ, पर मैं यह नहीं चाहता कि तुम्हें कष्ट उठाना पड़े, क्योंकि तुम सदैव अच्छा खाती-पहनती आई हो और कोई काम धन्धा न होने के कारण मैं तुम्हें आराम से न रख सकूँगा।"

बहुत देर बाद वह सयत हो पाई और उसने बिगड़ी-बिगडी बातें करना छोड़ा। वह बोली—"तुम्हारे साथ मैं गरीबी में भी सुखी रहूँगी और अभी तो पिताजी भेजने को ही नहीं कहते, इसलिये यह सवाल ही नहीं उठता। जिस पिता ने सोलह वर्ष खिलाया है, उसके लिये दो-चार साल और खिलाना कठिन बात नहीं है— न पुत्री का पिता के पास रहना किसी प्रकार भी किसी के लिये शर्म का बायस हो सकता है। इतना सब समझने बूझने पर भी तुम्हारा इन्कार करना हठधर्मी है और साफ प्रगट करता है कि तुम उत्तरदायित्व से बचते हो। तुमने मुझे पत्र लिखे और मेरे मन को डिगा दिया, विवाह की ससारी प्रथा का पालन न हो तो क्या मैं तुम्हारी नहीं हो चुकी। सच तो यह है कि जिस दिन तुम्हारा मन मेरी ओर और मेरा मन तुम्हारी ओर आकर्षित हुआ, उसी दिन मैं तुम्हारी हो गई और जिम्मेदारी तुम्हारे सिर आ पड़ी। समझना न समझना तुम पर है। विवाह के बन्धन के बिना भी तुम मानसिक-बधन में बँध चुके हो, जो उससे कहीं ज्यादा दृढ है। क्या विवाह हो जाने पर भी लोग अपनी पत्नियों को नहीं छोड़ देते, इसलिये मैं तो इसके लिये ज़रा भी उत्सुक नहीं हूँ; बस इतना है कि विवाह हो जाता तो पिता जी और माता जी को शान्ति मिल जाती। फिर भी मैं यही कहूँगी कि करो तुम वही जो उचित और अपने लिये सुविधाजनक समझो।"

"शाबाश! मान गए भाई। तुम वकील होतीं तो अच्छा रहता। मैं विवाह के लिये पिता जी से कह चुका और मुझे अब वास्तव में कोई आपत्ति नहीं है। रात बहुत हुई भाई अब सोने की जगह बताओ।"

वह मुझे सोनें का कमरा दिखलाकर जाने लगी तो मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। "जाती कहाँ हो, अभी तो बहुत बातें करनी हैं।"

"आप ही तो अभी कह रहे थे कि रात बहुत हुई, अब कहते हैं बातें करनी हैं।

मेरे लाख कहने-सुनने और शक्ति से काम लेने पर भी वह शय्या पर लेटने को तैयार न हुई। कहने लगीं—यों मन और तन तुम्हारा हो चुका, परन्तु जब तक मेरे माता-पिता अपने हाथों से मुझे तुम्हें न सौंप देंगे तब तक किसी प्रकार शारीरिक सम्बन्ध मैं तुम्हारे साथ न स्थापित कर सकूँगी। इतनी बात के लिये मैं प्राचीनता की क़ायल हूँ, यदि यह रोक मैंने अपने ऊपर न रखी होती, तो मेरा भी चरित्र वैसा ही होता जैसा आजकल अधिकतर लड़कियों का देखा जाता है। मुझे अपने चरित्र का गर्व है और मेरे माता को भी मुझ पर दृढ विश्वास है; इसीलिए उन्होंने मेरी इच्छा के सामने सर झुका दिया। अपने जीवन में पहली बार किसी पुरुष ने मेरे शरीर का स्पर्श किया है।

उसका हठ देखकर मैं चुप रह गया। पलँग के पैताने बैठी हुई वह मेरे न जाने कब तक पैर दाबती रही, यहाँ तक कि मैं सो गया। रात में मेरी नींद खुली, तो मैंने देखा कि मेरे पैरों पर सिर रखे वह सो रही है। उसकी वह भक्ति और निष्टा देखकर हृदय में उसके लिये प्रेम का स्रोत उमड़ उठा। मेरी काम-पिपासा एक बार फिर जाग्रत हुई, मैंने उसे अपने बराबर में घसीटना चाहा, परन्तु गहरी निद्रा में होने पर भी उसे मैं खींच न सका। मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे उसका उज्ज्वल कौमार्य धर्म सुसुप्तावस्था में भी उसकी रक्षा कर रहा है। मैं अपने प्रयत्न से निरत होकर सो रहा।

दूसरे दिन जब मैं काफी दिन चढने पर उठा तो सब लोग ड्राइंग रूम में बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे, यानी देवी भी। खूब हँसी-खुशी और प्रसन्नता से बातचीत होते हुए चाय पी गई। उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे जीवन में पहली बार मुझे किसी दूसरे परिवार से इतना नैकट्य और स्नेह मिला देवी के मुख पर एक स्निग्ध ज्योति और सौम्य भाव का साम्राज्य था और मैं उसे कनखियों से ही जी भर कर देखने का प्रयत्न कर रहा था।

चाय समाप्त हो जाने पर डाक्टर साहब ने मुझे अलग ले जाकर पूछा—"तो मुझे आपकी सम्मति प्राप्त है न ?"

"जी हाँ"—मैंने कहा।

और डाक्टर साहब बहुत व्यस्त हो गए। उसी वक्त डिनर के कार्ड उन्होंने छपने भेजे और तीन घण्टे के अन्दर ही वह छपकर आ गए। उसका विषय यह था कि पुत्री के विवाह के निश्चित हो जाने के उपलक्ष में डिनर है। दिन भर वे इन कार्डों के भिजवाने और डिनर के प्रबन्ध में लगे रहे।

शाम को लगभग ६ बजे जब कि अँधेरा हो रहा था, डाक्टर साहब ने मुझे और देवी को साथ में लिया और अपने बँगले के पीछे की ओर चले। बँगले के बाहर निकल जाने पर कुछ और आगे बढ़कर एक घने पेड़ों और फुलवारी से ढँका हुआ मन्दिर मिला। बाहर से वह इतना अधिक ढँका हुआ था कि पेड़ों के बीच में यह पता ही नहीं चलता था कि क्या है ? मन्दिर में यों कोई विशेषता नहीं थी, पर एक रहस्यात्मकता सी उसके वातावरण में लिपटी हुई मुझे लगती थी। मन्दिर काफी साफ सुथरा था, पर उसमें एक भी पुजारी अथवा अन्य कोई व्यक्ति न दिखलाई पड़ता था।

मन्दिर के बीचोबीच में एक शिवमूर्ति थी। देवी अपने हाथों में एक पूजा की थाली लाई थी। डाक्टर साहब के आदेशानुसार हम दोनों ने पूजा की। फिर डाक्टर साहब ने हम दोनों के हाथ मिलाकर कहा—मैं जो कुछ कहता हूँ उसकी गुरुता पर ध्यान दे लो, फिर वचनबद्ध होओ। तुम्हें कहना है—"हम दोनों आज से सुख-दुख सदैव के लिये एक होते हैं।"

बात को समझते ही हम दोनों ने दोहराया। डाक्टर साहब ने कहा—"तुम्हारे विवाह की कार्यवाही समाप्त हुई। देवता को प्रणाम करो और आओ वापिस चलें। तुम्हें एक करने के लिये मेरी समझ में

इससे ज्यादा आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। मेरा आशीर्वाद है, तुम दोनों फलो-फूलो।"

रास्ते भर मैं अपने जीवन की इस अलौकिक घटना-गन्धर्व-विवाह पर सोचता चला आया। मेरा जीवन भी कैसा विचित्र रहा है, न जाने क्या-क्या इसमें हो चुका है और क्या-क्या होना है।

उस दिन शाम को बड़े-बड़े लोग डिनर में इकट्ठे हुए। डाक्टर साहब ने सब से मेरा परिचय अपना दमाद बताकर कराया। उस वक्त मुझे यह डर लगता था कि कोई कहीं मेरी पढाई-लिखाई या नौकरी पेशा के बारे में न पूछ बैठे, पर यह बात न हुई। उस दिन रात्रि में देवी को मैंने पत्नी रूप में पाया।

त्रिलोकी ने अपनी प्रेम कहानी बाक़ायदा विवाह में समाप्त करली तो मैंने पूछा—"ब्याह तो पड़े मज़े में कर आए, पर अब सोचा क्या है?"

"अरे भाई, मैंने तो यही सोचा था कि कहीं कोई ठीक काम-काज मिल ज़ाय, तो देवी को साथ ही लाकर रक्खू।"

"क्यों खून लग गया शेर के मुँह में क्या?"

"भाई, जिम्मेदारी भी तो है, यह कहाँ की भलमंसी है कि ब्याह करके किसी के माथे छोड़ दिया जाय।"

"ठीक कह रहे हो"—मैंने कहा,—"तुम्हें अब कोई काम-काज ढूँढने के विषय में पूर्ण रूप से प्रयत्नशील होना चाहिये।"

"सो तो मैं हूँ, लेकिन इसी बीच में एक और मुसीबत सिर पर आपड़ी है। मैं बनारस का बहाना करके गया था और सोचा था कि एकाध रोज़ के लिये बनारस भी हो लूँगा जिसमें किसी को शक न हो। लौटते में मैं बनारस उतरा भी, लेकिन उसके एक दिन पहले ही बनारस वाले जीजा जी अपने किसी काम से लखनऊ आये, जिससे घर में यह पता चल गया कि मैं उस दिन तक बनारस नहीं पहुँचा हूँ, कहीं

और रहा हूँ।"

आते ही बाबू जी ने आड़े हाथों लिया। पहले मैं इधर-उधर करता रहा, फिर यही ठीक समझा कि बस बात उन्हें साफ-साफ़ बतला दूँ और यही मैंने किया। बात सुनते ही बाबूजी तो जैसे बौखला गए न जाने कितनी बातें मुझे सुनाईं। सुना है वकील बैरिस्टरों से राय ले रहे हैं और मेरा दूसरा ब्याह करना चाहते हैं।

"और तुम वह भी कर लोगे ?"—मैंने पूछा।

"कर क्या कोई हँसी-खुशी लूँगा ?"

"हँसी-ख़ुशी न सही, रोकर सही।

"तो मैं करूँ क्या ?"

"इन्कार कर दो।"

"इन्कार तो मैं कर रहा हूँ और करूँगा, पर वे मानें तब न ?"

"नहीं मानें, तो तुम घर से भाग जाओ, अलग हो जाओ पर यह दोहरी जिम्मेदारी न लो अपने सिर पर।"

"भाई, मुझमें इतना साहस नहीं कि बाबूजी का मुँह दर मुँह विरोध कर सकूँ।"

"मैं कब कहता हूँ तुमसे मुँह दर मुँह विरोध करने को। विवाह की तैयारी हो, तैसे ही तुम चुपके से खिसक जाओ।"

इससे उन्हें बड़ा दुःख होगा। कहीं ऐसा न हो कि अपने शरीर को कुछ कर लें। वे बड़े आत्माभिमानी आदमी हैं। विवाह के लिये सब लोगों को वे इकट्ठा करेंगे और उस वक्त मैं यदि भाग जाऊँ, तो उन्हें बड़ा धक्का पहुँचेगा।

"तो तुम अभी से भाग जाओ।"

"तुम तो भाई, ऐसी बातें कहते हो, जो मुझसे हो नहीं सकती।"

"आख़िर क्यों नहीं हो सकती, यह भी तो मालूम हो।"

"घर वालों को इस प्रकार छोड़कर अलग हो जाना मेरे लिए सम्भव

नहीं है।"

"कौन सी सहायता कर रहे हैं आप अपने घर वालों की? सिवाय इसके कि एक और बोझा हैं उनके सिर पर।"

"यह तो ठीक है, पर मेरा मन नहीं मानता।"

"तब तुम अपनी जिन्दगी बर्बाद करोगे और साथ में उन दोनों लड़कियों की भी। आख़िर क्या तुक है, अब इतनी जल्दी तुम्हारा ब्याह करने का?"

"बाबू जी मेरा और विवाह करके डाक्टर साहब के यहाँ के सम्बन्ध को अनुचित और ग़ैर-क़ानूनी सिद्ध कर देना चाहते हैं। वे उस विवाह को किसी प्रकार विवाह मानने को तैयार नहीं है। भाई, क्या करूँ, पुराने आदमी हैं उनके लिए हम लोगों की तरह सोचना कठिन है।"

"और तुम्हारी उनसे सहानुभूति है। तुम अपनी ज़िन्दगी चौपट करोगे और रोएगी वह बेचारी, जिसके विवाह को ग़ैर क़ानूनी करार देने की तैयारियाँ हो रही हैं।"

"कोशिश तो भाई मैं पूरी करूँगा कि अब और विवाह न हो।"

"देखना है, मुझे तुमसे बहुत कम आशा है।"

२०

कालेज से लौटकर अभी किताबें भी न रख पाया था कि भाभी दिखलाई पड़ीं। बड़ी खुश थीं, कहने लगीं—"मिठाई खिलाओ तो एक

खुश ख़बरी सुनाऊँ।"

"कोई चीज मिठाई से अच्छी न समझ में आई, जो उसी का वरदान मॉग रही हो?"

"अच्छा बुरा तो अपनी-अपनी समझ और पसन्द पर है"—वह बोली।

मैंने कहा—"अच्छा मंजूर है, आगे बढो।"

वे बोलीं—"तुम्हारे दोस्त की शादी तय हो गई, कल शाम को बारात जा रही है।"

"किस दोस्त की?"

"त्रिलोकी की। आज दोपहर में भाभो आई थीं। बहुत खुशामद करके कह गई हैं कि बारात में जरूर चलना पड़ेगा। तुम अपनी तैयारी कर रखो।"

"कहाँ जायेगी बारात?" मैंने यह सोचते हुए पूछा कि शायद बाबूजी मान गये हों और उस देवी को ही अपनी बहू के रूप में स्वीकार करने जा रहे हों।

"कानपुर।"

"कौन हैं वह लोग?"

"क्या मतलब?"

"कौन जाति हैं?"

"यह भी कोई पूछने की बात है, खत्री हैं और कौन हैं।"

"पूछने की बात क्यों नहीं है भाई। आजकल सब जातों में लोग शादी करते हैं।"

"करते हैं सो करते होंगे, यह लोग वैसे नहीं हैं।"

मैंने अपने मन में कहा कि तुम क्या जानों यह लोग कैसे हैं, यह तो हमें मालूम है। उसी वक्त से मेरे मन में इस घटना को लेकर एक अजीब उथल-पुथल मच गई। त्रिलोकी भी कैसा थाली का बैंगन है,

जिधर हुआ उधर लुढक गए। अपना कोई सिद्धान्त ही नहीं है, जिधर लुढका दिये गये, उधर लुढक गए। कमाई एक पैसा नहीं है और एक व्याह करके डाल आए हैं, अब दूसरा करने जा रहे हैं। खिलाएँगे पता नहीं ख़ाक या पत्थर। फिर बाबू जी पर क्रोध आया। क्या दक़ियानूसी आदमी हैं यह। धर्म और आचरण का कैसा ग़लत आडम्बर है इनका। ज़रा नहीं सोचते कि मैं क्या करने जा रहा हूँ। इनके एक काम से एक व्यक्ति की ज़िन्दगी ख़राब होवेगी क्या, इसका इन्हें ध्यान भी नहीं आता। बार-बार मुझे उस देवी का ध्यान आता और इच्छा यह होती कि कानपुर का पता जानकर वहाँ तार दे दिया जाय कि त्रिलोकी का एक व्याह हो चुका है, इससे व्याह न करो। फिर यह सोचकर हिम्मत न होती थी कि त्रिलोकी फौरन समझ जायगा कि यह किसने किया है। क्योंकि त्रिलोकी के परिवार ने इस बात को बहुत गुप्त रखा था और बाहर के एकाध व्यक्ति ही इस बात को जानते थे। बात खुलने पर उनके परिवार से बिल्कुल दुश्मनी ही हो जा सकती थी और यह मैं न चाहता था। इतना मैंने निश्चय कर लिया कि मैं इस विवाह में सम्मिलित नहीं होऊँगा।

दूसरे दिन सवेरे ही प्रकाश आया, कहने लगा—

"आप ने बारात में चलने की सब तैयारी करली है?"

"छुट्टी तो मिल ही नहीं रही है?"

"स्कूल से?"

"हाँ।"

"किसी तरह भी चलिए।"

"छुट्टी की कोशिश कर रहा हूँ, मिल जायगी तो चल सकूँगा। बारात में जाने के लिये ट्यूशन तो छोड़ नहीं सकता।"

"यह तो ठीक है। कोशिश कीजिये छुट्टी की"—कहकर प्रकाश चला गया।

उस दिन दस बजे सवेरे का गया हुआ मैं ग्यारह बजे रात को घर लौटा। भाभी ने आते ही कहा—"वाह, अच्छे आदमी हो तुम। जाने कितने बुलावे त्रिलोकी के यहाँ से बारात में चलने को आए और तुम्हारा कहीं पता ही नहीं।"

"स्कूल से छुट्टी मिली नहीं, मेरा जाना तो हो नहीं सकता था।"

"और अब तक कहाँ रहे?"

"एक जगह काम से गया था।"

"मुझे तो कुछ ऐसा मालूम होता है, जैसे छुट्टी का तो बहाना है, तुम जान-बूझ कर किसी कारण से नहीं गए।"

"यह अच्छी कही तुमने। भला त्रिलोकी के व्याह में और मैं न जाता। छुट्टी मिल जाती तो सिर के बल जाता।"

"भाई, मुझे कुछ ऐसा मालूम होता है तुम्हारे रंग-ढंग से।"

"यह सब कुछ नहीं तुम्हारा ख़्याल है। कहीं ऐसा उनके घर वालों के सामने न कह देना। जो वे बुरा मान जायँ।"—कहकर मैं बाहर चला आया।

यह मालूम होते ही कि त्रिलोकी फिर व्याह करके लौट आया है, मैं उसके घर पहुँचा। बाबूजी, भाभी सब बड़े नाराज कि बारात में क्यों नहीं चले। किसी तरह छुट्टी की बात कह कर उन लोगों को क्षमा माँग कर शान्त किया। त्रिलोकी के पास पहुँचा तो वह भी बड़े गरम। त्योरी बदल कर पूछा—"बारात में क्यों नहीं चले तुम?"

मैंने कहा—"तुम पूछ रहे हो?"

"हाँ, हाँ मैं।"

मैंने उसका हाथ पकड़ा और बाहर ले आया। कहा—"मुझसे आँख मिलाओ ज़रा।"

त्रिलोकी दूसरी तरफ देखता हुआ बोला—"क्यों कोई चोरी की है मैंने, या डाका डाला है?"

"इससे बढकर कौन सी चोरी करोगे ?"—मैंने कहा।

"सवाल दीगर, जवाब दीगर। मैं पूछता हूँ' बरात में क्यों नहीं चले, आप मुझसे आँखें लडाने को फर्मा रहे हैं।"

बारात में मै इसलिये नहीं चला कि मुझे इस व्याह की ज़रा भी .खुशी नहीं हुई। मैं समझता था शायद तुम्हे भी न होगी, पर देखता हूँ, तुम तो काफी उत्साह हो।

त्रिलोकी कहने लगा—"मैं क्या करता, बाबू जी ने एक न सुनी।"

मैंने मन में मोचा कि शायद त्रिलोकी की समझ में बात आ गई और वह मान गया, पर मेरा ख्याल गलत निकला, क्योंकि दो वर्ष बाद जब मेरा विवाह हुआ तो त्रिलोकी जान-बूझ कर दो रोज़ पहले लखनऊ से बाहर चला गया और मेरे विवाह में मम्मिलित न हुआ। इस बात को मैं उस वक्त न समझ सका था।

इतवार के दिन मैंने त्रिलोकी और उसकी पत्नी को अपने यहाँ निमन्त्रित किया और कुछ उपहार दिये। इसी समय एकाध बार उनके रूप की एक झलक सी मुझे दिखाई पड़ी पर वह मुझे कुछ आकर्षक न मालूम हुआ। मैंने अपने मन की इस भावना की विवेचना यों की कि शायद देवी से प्रति अधिक सहानुभूति होने के कारण मुझे ऐसा मालूम हुआ, पर दूसरे लोगों ने भी मुझ से मिलती-जुलती ही सम्मति दी।

कुछ दिन रह-बस लेने पर स्वभाव और गृह-कार्य की कुशलता के विषय मे भी कुछ बहुत अच्छी रिपोर्ट नहीं सुनाई पड़ी। विशेषता यह थी कि पर्दा छोटे देवर प्रकाश तक से होता था। मैंने मन में सोचा जल्दी का काम शैतान का।

———

२१

विवाह पर विवाह होते चले जाते थे और आमदनी का कोई ज़रिया न था। फल यह हुआ कि घर की स्थिति बिगड़ने लगी और वह भी इस हद तक कि इस परिवार को वास्तविकता का पर्याप्त ज्ञान होने लगा। रईसी के ऊँचे स्तर से उतर कर यह लोग भी अपने आप को साधारण जनों की गिन्ती में गिनने लगे और यह एक यथार्थ-वादी लक्षण था। राजू त्रिलोकी के विवाह में न आ सके थे, उन्हें छुट्टी न मिली थी, पर उनकी पत्नी अपने तीन बच्चों को लेकर आई थीं और अभी कुछ दिन यहीं रहने वाली थीं। इन सब से घर ज़रूर भरा-पूरा था, पर भरे-पूरे घर में पेट भरने के लिये अनाज भी काफी चाहिये था।

यह वक्त वह था जब आधुनिक युद्ध शुरू हो चुका था और मँहगाई काफी हो चली थी। एक आदमी की मामूली कमाई में उसी का पेट नहीं भरता था और यहाँ तो कमाने वाला कोई था ही नहीं, खाने ही वालों की सेना थी। त्रिलोकी ने मुझे रेडियो के लिये नाटक लिखते देखा था, उसने भी प्रयत्न किया—एक सिफारिश भी पहुँचाई और उसे भी वहाँ दस-बीस रुपये के महीने के प्रोग्राम मिलने लगे। लेकिन रेडियो के प्रोग्रामों का कुछ ठीक तो था नहीं, मिले, न मिलें, इसलिये कोई स्थायी आमदनी होने की आवश्यकता थी। त्रिलोकी इस ओर भी प्रयत्नशील रहा और उसे एक मोटर कम्पनी में स्टोर कीपरी मिल गई।

त्रिलोकी की उस नौकरी में बड़ी कड़ी ड्यूटी थी। सुबह आठ बजे से शाम को सात बजे तक काम करना पड़ता, बीच में एक घण्टे की

खाना खाने की छुट्टी मिलती। त्रिलोकी दिन भर दफ़्तर में काम करता और रात को दस ग्यारह बजे तक बैठा रेडियो के लिये लिखता रहता। शिक्षा, अध्ययन और प्रतिभा तीनों में से एक भी विशेष न थी, इस कारण जब कहीं तीन-चार चीजें लिखता तो एक स्वीकृति होती, फिर भी वह निराश न होता, बराबर काम करता रहता। बहुत काम करने के कारण वह कुछ दुर्बल होता दिखलाई पड रहा था, इसका कारण यह था कि खाने को बहुत रूखा-सूखा और वह भी कम मिलता था। बाबू जी का यह हाल था कि त्रिलोकी को जो कुछ मिलता, चाहे रेडियो से और चाहे नौकरी से, उसकी वह एक-एक पाई झाड़ लेते थे, और बिना इसके घर का खर्च भी न चल सकता था। त्रिलोकी के ही बल पर इस वक्त घर का खर्च चल रहा था। पर इतनी गुन्जायश ही न थी कि कोई यह सोच सके कि त्रिलोकी पर इतनी मेहनत पड़ती है, उसे कुछ दूध या घी दिया जाय। बडी मुश्किल में सब को सूखी रोटियाँ ही पहुँच पाती थीं।

वर्षों से एक दूध वाली दूध के नाम पर तीन चौथाई पानी मिला कर देती थी। किसी वक्त मे उससे सेरों दूध लिया जाता था और हर महीने पचीसों रुपये उसे हिसाब में मिलते थे। तब वह दूध भी बढिया देती थी, लेकिन इधर वर्षों से उसका हिसाब न किया गया था, इसलिये जो कुछ वह देती थी, वही गनीमत समझा जाता था। जाति की घोसिन थी, पर भलमसी मे बडे-बडों से बढी-चढी थी। इतने वर्ष बीत जाने पर भी उसने कभी भी रुपयों का तगादा न किया था। दूध धीरे-धीरे कम किया जाने लगा था। पहले घर के सब प्राणी दोनों वक्त पीते थे, अब सिर्फ बच्चों के लिये पाव-आध सेर ही लिया जाता था। हिसाब न कर सकने की असमर्थता और उसकी भलमसी के कारण भाभो को शर्म मालूम हुई और एक दिन उन्होंने उस से कहा—"दूध वाली, अब तुम दूध देना बन्द कर दो। अब हम लोगों

के लिये यह मुश्किल है कि तुम्हारा हिसाब कर सकें, ऐसी हालत में इस तरह दूध लेते जाना ठीक नहीं है।"

दूध वाली बोली—"वाह बहू जी, ऐसा कहीं हो सकता है कि मेरे रहते यह छोटे-छोटे बच्चे ज़रा ज़रा से दूध को तरसें। आपका पैसा बहुत खाया है, इस तरह छोड़ना नमकहरामी होगी।"

भाभो ने अपनी आँखों से आँसू पोंछ लिये और दूध वाली जब तक घर में बच्चे रहे, बराबर दूध देती रही। पर अब घर में कोई छोटा बच्चा न था, इसलिये वह भी बन्द कर दिया गया था और अब किसी के बीमार हो जाने पर ही घर में दूध आता था।

राजू की पत्नी (छोटी भाभो) आज कल लखनऊ में थी, इसलिये वह कुछ खर्च भेजते थे, पर वह इतनी सीधी न थी कि उसमें का एक पैसा भी कोई छू लेता। आते ही वह उसे रख लेती और अपने बच्चों को जलेबी और हलुवा मँगा कर खिला देती थी। प्रकाश वगैरह पूछे भी न जाते थे।

राजू का सबसे बड़ा लड़का था रामनाथ। बड़ा ही होशियार और शिष्ट था, उसकी बातचीत सुनकर तबियत प्रसन्न हो जाती थी। एक दिन उसे बुख़ार आ गया। बुख़ार धीरे-धीरे उतरा था कि उसने अपनी ज़िद्द से या माँ ने दुलार से कुछ खिला दिया। बुख़ार मियादी हो गया। दिन पर दिन बीतने लगे, पर टेम्परेचर कम न होता। बाबू जी एक बहुत अच्छे होमियोपैथिक डाक्टर के यहाँ से जिनके यहाँ मुफ़्त दवा मिलती थी, रोज़ दवा लाते, पर दशा कुछ सुधरती न दिखलाई पड़ती थी। इसके अतिरिक्त और कुछ करने की उनकी सामर्थ्य ही न थी। लोग राय देते, अमुक डाक्टर को दिखलाइये, मेडिकल कालेज में भर्ती करा दीजिये, पर बिना पैसे यह सब मुश्किल था।

छोटी भाभो बिगड़ी गई, कहने लगीं—"ये तो मेरे लड़के की जान लेकर छोड़ेंगे। इनको अपना पैसा इतना प्यारा है, तो मेरी सोने की

चूड़ियाँ ले जाकर बेच दें और लडके का इलाज करा दे। मुझे इससे प्यारा कुछ नही है।"

बात कितनी अनुचित थी, बाबू जी के पास पैसा था ही कहाँ—जिसे वह प्यार करते, फिर भी उन्होंने बहू की बात को सहन किया। उनके लिये यह लज्जा की बात थी कि बहू का गहना बेच कर लड़के का इलाज करावे। इसलिये, कहीं से रुपया उधार लाये और एक अच्छे डाक्टर का इलाज कराना शुरू किया। बहू को समझाया--"बेटी, बडे डाक्टरों के ही हाथ मे सब कुछ होता तो बड़े लोग कभी मरते ही नहीं। वे तो बड़े से बड़े डाक्टर को बुलाने का सामर्थ्य रखते हैं। जिसके हाथ में बचाने और मारने की शक्ति है, वह कोई और ही है। यह तो सिर्फ अपने मन को धोखा देना है। अच्छा होना होता है तो बेवकूफ से बेवकूफ और नवसिखिये डाक्टर की दवा लग जाती है और नहीं अच्छा होना है तो संसार का सबसे चतुर डाक्टर भी नहीं बचा सकता। इसलिये यह मृगतृष्णा छोड़ो।"

बहू को इन सब बातों से कहाँ सन्तोष होने वाला था। उसने उसी दिन राजू को तार दिलवा दिया। जिस दिन राजू आये लड़के की दशा बहुत खराब हो गई। उन्होंने दिन भर डाक्टर वैद्य और हकीम की भीड़ लगा दी, पर वे भी बच्चे को न बचा सके। घर में कोहराम मच गया। बाबू जी भी एक बार रो दिये—'हाय मेरी ऐसी दशा हो गई कि मेरा पोता ठीक इलाज न होने के कारण जाता रहा।' फिर उन्होंने अपने आप ही को धीरज दिया और कहा—यह गलत बात है, उसे हम लोगों के बीच में नहीं रहना था, इसीलिये मैं उसे न बचा सका। अच्छे से अच्छा इलाज होने पर भी यही होता।

छोटी-भाभो और राजू उसी दिन शाम को सब बच्चों के साथ कैम्पियरगञ्ज चले गए।

× × ×

एक दिन बाबू जी सुबह-सुबह घर पर आए और बोले—"क्यों भाई सावित्री (त्रिलोकी की छोटी बहन) के ब्याह की कुछ फिक्र है, या ऐसे ही बैठे रहोगे ?"

मैंने कहा—"नहीं बाबू जी, फिक्र क्यों नहीं है, पर कोई लडका अभी समझ में नहीं आया।"

"अच्छा भाई, एक लडके के बारे में मुझे मालूम हुआ है। और चौक में रहता है, सुना है घर का भी अच्छा है। और हजरतगञ्ज में मेफेयर सिनेमा के पास किसी स्टोर में नौकर है। नाम रामनारायण है, तुम और त्रिलोकी उसे जाकर देख आओ। कब जाओगे ?"

"जब आपका हुक्म हो।"

"ऐसा करो, शाम को छै या साढे छै बजे त्रिलोकी के पास दफ़्तर में जाकर मिल लो, फिर वहीं से उसे देखते हुए घर लौट आना।"

मैंने कहा—"बहुत अच्छा।"

हाँ भाई, मैंने सोचा, मैं पुराना आदमी, मेरी पास की हुई बात तुम लोग पुरानी और रद्दी बता देते हो, इसलिये जो बात अब तुम लोग पास करो वही करूँ। चन्दो के ब्याह में जैसा तुम लोगों ने गड़-बड मचाया था उससे मैंने यही तय किया।

मै इस विषय में चुप रहा। कहा—"अच्छा मैं आज ही जाऊँगा और जो कुछ होगा, आकर बताऊँगा।"

शाम को मैं हजरतगञ्ज त्रिलोकी के मोटर कम्पनी के आफिस में पहुँचा। ठीक कारखाने के बीचोबीच में एक मोटरखाने के ऊपर वह बहुत ही नीची छत का कमरा था, जिसमें इतना सामान भरा था और नीचे ठीक की जानेवाली मोटरों और लारियों का बदबूदार धुवाँ इतना इतना भरा हुआ था कि साँस लेना कठिन था। त्रिलोकी को मैंने बड़े मोटे मोटे रजिस्टरों में उलझा हुआ पाया। माथे पर दिन भर के परिश्रम और परेशानी की बूँदे झलक रही थीं और चेहरे का

मालूम होता था किसी ने सत खींच लिया है। तेल निकली हुई खली के समान सूखी हड्डियाँ ही चेहरे में दिखलाई पड़ती थीं।

मुझे देखकर एक फीकी-सी मुस्कराहट ओठों पर आई। कैसी करुण थी, वह रुदन से भी अधिक। बोला—"बाबू जी ने कहा होगा तुमसे ?"

मैने कहा—"हाँ।"

"अभी तो मेरा काम ख़त्म होने मे ज़रा देर है। पौन घण्टा तक लग जायगा। तब तक तुम जाओ हजरतगज घूम आओ, फिर बाहर इन्तज़ार करो, मैं वहीं आजाऊँगा।"

"अरे, यहीं क्यों न बैठा रहूँ—एकाध बात-चीत हो जायगी। अब तो तुम से मिल ही नहीं पाता। तुम्हें अपनी नौकरी से फुर्सत नहीं मिलती, मुझे अपनी पढ़ाई और ट्यूशन से।"

"इतनी देर यहाँ बैठे रहोगे तो सिर में दर्द होने लगेगा। वैसे तुमसे बातें करने का तो मेरा भी बहुत जी है।"

"और तुम जो यहाँ रोज बैठे रहते हो तुम्हारे सिर में दर्द नहीं होता ?"

"पहले खूब होता था, पर अब बन्द हो गया। बुख़ार या हरारत चाहे कभी कभी हो जाय।"

"एटमास्फियर (तावरण) तो यहाँ का बहुत ख़राब है। तो तुम्हें हरारत हो जाती है ?"

"अक्सर।"

"दवा क्यों नहीं करते ?"

"गया था वैद्य जी के पास। वह कहते हैं, फौरन वहाँ की नौकरी छोड़ दो, वरना ज्यादा तबियत ख़राब हो जाने का अन्देशा है। वहाँ काम करते हुए दवा करने से कोई लाभ न होगा।"

"तो तुमने क्या निश्चय किया ?"

"जो करना चाहिये था। यानी बिना नौकरी किये जब भूखों मरने की नौबत आसकती है तो काम करते हुए मरना ज्यादा बहादुरी का काम है। क्या राय है तुम्हारी ?"—उसने उसी प्रकार मुस्कराते हुए पूछा।

मैं कुछ न कह सका। मन बहुत ही दुःखी हुआ बात का रुख बदलने के लिये पूछा—"कहो तुम्हारी देवी का क्या हाल है ?"

"हाल क्या बताऊँ, चिट्ठियाँ बराबर आती रहती हैं। किसी में मुझे बुलाया जाता है, किसी में खुद आने की इच्छा प्रगट की जाती है। धड़ाधड़ चिट्ठियाँ आती रहती हैं और सबका विषय यही रहता है।"

"तुम क्या जवाब देते हो।"

"उस पर अपनी वास्तविक परिस्थितियों को प्रगट कर चुका हूँ कि घर की दशा ऐसी है कि मुश्किल से जितने लोग यहाँ हैं उन्हीं को भोजन मिल पाता है, तब यह सवाल कहाँ उठता है कि मैं रेल किराया खर्चकर वहाँ आ सकूँ या एक व्यक्ति को कगाली में आटा गीला करने को सम्मिलित कर सकूँ। वह फिर भी लिखती है 'मुझे वहाँ का आधा पेट रूखासूखा भोजन यहाँ के जर्दा पुलाव से अच्छा है, जैसे आप लोग रह सकते हैं, वैसे रहने में मुझे जरा भी कष्ट न होगा। आप वहाँ कष्ट उठाएँ, मैं यहाँ आराम से रहूँ, आप रूखा-सूखा खायें और मैं आधा पेट खाऊँ, यह कैसे सम्भव है। मैं भी कल्पना करके कि आप कैसे रहते होंगे, वैसे ही रहने का प्रयत्न करती हूँ और इस कारण मेरे घर के लोग मुझसे बहुत दुःखी हैं। मुझे इस प्रकार रहते देखकर वे सुख से जीवन कैसे बिता सकते हैं। इसलिये मैं आपसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि मुझे अपने पास ही रखिये। अब तो वहाँ के दुःखों से ही मुझे मतलब रखना है और उन्हीं से जीवन पार होगा, यहाँ के सुख मेरे किस काम के।' अब बताओ मैं उसे इसका क्या जवाब दे सकता हूँ ?

"कुछ नहीं दे सकते ।"

"मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आता है कि इस विषय में क्या करूँ । तुम्हारा कुछ दिमाग़ काम करता हो तो बताओ ।"

"बताऊँ क्या । तुम्हारे ऊपर गुस्सा तो ऐसा आता है······ ।"

"कि गोली मार दूँ क्यों न," उसने हँसकर पूछा "लेकिन वह तुमसे होगा नहीं, बीती बातों को न तुम बदल सकते हो न मैं । इसलिये यही अच्छा होगा कि कोई तर्कीब बताओ । फैले हुए दूध पर रोने से क्या लाभ ।"

"हृदय तो यही कहता है कि चाहे जैसे भी हो उसे यहाँ लाकर रखना चाहिये और मस्तिष्क ख़र्च और परिस्थितियों का प्रश्न उठाकर सारी भावुकता चौपट कर देता है । मैं स्वय भी नहा निश्चित कर पाता हूँ कि तुम्हें क्या राय दूँ । यदि तुम्हारी आमदनी बढ़ जाती तो बहुत कुछ मामला सुलझा लिया जाता, बाबू जी को चाहे फिर एक दफे बेरुख़ी भी दिखला दी जाती । सिर्फ़ तुम इतना कमा सकते कि इनका और उनका सब का ख़र्च चल जाता, तो सब ठीक हो जाता ।"

"और आमदनी बढना ही असम्भव है । नवें दर्जे तक पढ़े हुए व्यक्ति को बीस-पचीस रुपए से ज्यादा की नौकरी आजकल कहाँ धरी है । देखो, समय शायद कुछ इस समस्या को सुलझाये ।

त्रिलोकी ने अपना काम खत्म किया और हम लोग बाबू जी के बताए हुए लड़के को देखने चले । एक ताक़ीद हम लोगों को खास थी कि जहाँ तक हो सके उस लडके को यह न मालूम होने पावे कि हम लोग किस मतलब से उसके पास आए हैं हम लोग इस बात पर विश्वास तो न करते थे, पर हुक्म तो मानना ही था ।

जहाँ का पता था उस स्टोर में पहूँचे तो एक बड़े टिपटाप नवयुवक से भेंट हुई, जिसने हम लोगों का स्वागत किया । अच्छी बात यह हुई कि वह हम लोगों का परिचित था । वह कभी-कभी कवि सम्मेलनों में

कविताएँ पढता था और इसी नाते उससे जान पहचान थी। बात-चीत के लिये वही विषय हो गया और हम लोग चल पड़े। नाम उसका वह था ही जो बाबू जी ने बताया था, यह मैं जानता था। पक्का करने के लिये मैंने उससे पूछा—"कहो भाई, तुम्हारा मकान चौक में है?" उसने उत्तर दिया—"हाँ।" हम लोगों ने जो कुछ उससे जानना था, जान लिया। उसने एक रेस्टोरेन्ट से मँगवाकर चाय पिलाई और हम लोग चलने को हुए।

उसने पूछा—"यह मैं न समझ सका कि आप लोगों ने कैसे इतना कष्ट किया?"

हम लोगों ने टालना चाहा। कहा—"आपकी कविताएँ सुनी थीं, इसलिये परिचय करना चाहते थे"—पर वह न माना और उसने असली बात जानने की जिद्द की, तब मैंने सब बतला दिया।

सुनकर वह बोला—"आप लोगों को भ्रम हुआ। जिन महाशय को आप लोग चाहते थे, वह मेरे नामराशी थे और पहले इसी स्टोर में थे। रहते वह भी चौक में थे, वह खत्री थे, मैं रस्तोगी हूँ। कल ही से मैं उनकी जगह आया हूँ।"

—o—

२२
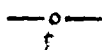
यह सुनकर कि त्रिलोकी की तबियत बहुत ज्यादा खराब है, मैं उसके घर पहुँचा। वहाँ मालूम हुआ कि उसे खून के दस्त और कै हो रही है और उसके वही भाई जो डालीगञ्ज के अस्पताल में डाक्टर थे, अपने यहाँ ले गए हैं। मेरा भी जी यह सुनकर बहुत ही ज्यादा घबड़ा उठा। जाकर देखा तो त्रिलोकी बहुत ही कमजोर और पीला तो अवश्य दिखलाई दिया, पर वह होश में था। उसे बोलते देखकर मुझे फिर

भी कुछ धीरज बँधा। एकाध बात मैंने उससे की और अस्पताल के बाहर आया।

सब लोगों से यह सुन चुका था कि डाक्टरों की राय में उसकी तबियत अच्छी नहीं है, दशा बहुत ही चिन्ताजनक है। मुझे एक दम देवी की याद आई। त्रिलोकी की यहाँ यह बुरी दशा है। कौन जानता है—किस वक्त क्या से क्या हो जाय और उस बेचारी को जो इसके नाम पर बैठी हुई है, कुछ पता भी न लगे, सिर्फ जीवन भर रोना रह जाय। उसे मालूम हो जाता तो कम से कम इसे देख तो लेती, कुछ सेवा तो कर लेती। यही सब सोच कर मैंने चुपके से एक तार डाक्टर साहब को दे दिया, लिखा—'त्रिलोकी की दशा बहुत ही ज्यादा ख़राब है, देवी सहित आइये।'

तीसरे दिन मैं अस्पताल में ही था कि डाक्टर साहब दरभगा से आ पहुँचे। त्रिलोकी उन्हें देखकर बहुत ही आश्चर्यान्वित हुआ। आज उसे डाक्टरों ने बोलने को मना कर दिया था। उसकी दृष्टि इतनी स्पष्ट प्रश्नजनक हो गई कि डाक्टर साहब समझ ही गए। उन्होंने कहा—"यहीं से तार गया था, इससे मुझे मालूम हुआ।" त्रिलोकी मेरी तरफ देख कर मुस्कराया। वह मुसकराहट कितनी अस्पष्ट थी। ओठों में वह ठीक-ठीक आ भी न पाई थी कि विलीन हो गई, पर जाने कैसे वह मुझे दिखलाई पड गई। मैं समझ गया कि मेरी चोरी खुल गई, लेकिन साथ ही उसके मुख पर के भाव से यह भी स्पष्ट होगया कि वह इसके लिये मुझ से असन्तुष्ट नहीं है।

डाक्टर साहब कह चले--"देवी, यहाँ आने को बहुत व्याकुल थी। मैं भी उसकी इच्छा की तीव्रता और उसके युक्ति सगत होने का क़ायल था। पर एक तो मै यह न जानता था कि आप की तबियत इतनी ज्यादा ख़राब होगी, दूसरे यह भी सोचता था कि आप उसे लाने से मुझसे नाराज न हो जायँ।"

त्रिलोकी की आँखें कुछ देर से बन्द थीं, उनसे दो अश्रु धाराएँ बह निकालीं। शायद वह अपने किये पर पछता रहा था कि अपनी अदूरदर्शिता से उसने दो बालिकाओं का जीवन बर्बाद कर दिया है और न जाने कितनों को दुःखी बना दिया है। कदाचित वह मन में सोच रहा था कि यदि वह न बचा, तो इन दोनों का जीवन किस प्रकार कटेगा। मैंने उसके आँसू पोंछ दिये और कहा—"इतना निराश क्यों होते हो त्रिलोकी, तुम जल्दी ही अच्छे हो जाओगे।"

त्रिलोकी के पलग के पास ही एक कुर्सी पर उसकी पत्नी घूघट निकाले हुए सेवा-सुश्रुषा के लिये बैठी थी। उसकी छोटी उम्र को देख कर भी कलेजा मुँह को आता था। डाक्टर साहब के हृदय में भी उसे देखकर सन्देह उठ खड़ा हुआ। उन्होंने पूछा—"यह कौन है?"

मैं उत्तर देने के पहले सोचने लगा, पर प्रकाश फ़ौरन ही बोला—"त्रिलोकी भैये की वाइफ (पत्नी) हैं।"

डाक्टर साहब की छाती पर जैसे किसी ने हथौड़े से चोट की, उनकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया और वे वहीं पड़ी हुई एक कुर्सी पर बैठ गए। अपनी पुत्री का भविष्य सोचकर वह चिन्ताकुल हो उठे थे, पर वे शीघ्र ही सम्हले और तकलीफ व इलाज की व्यवस्था इत्यादि पूछने लगे।

त्रिलोकी के ममेरे भाई (रामकृष्ण) जो इस अस्पताल के इन्चार्ज थे, इतने में आये। उन्होंने मुझसे डाक्टर साहब का परिचय पूछा। मैंने डाक्टर साहब का नाम ही बतला कर दोनों सज्जनों का परिचय करा दिया, पर रामकृष्ण तेज आदमी थे, इतने से कहाँ सन्तुष्ट होने वाले थे। पहला ही प्रश्न उन्होंने यही पूछा—"मैं यह न जान पाया कि आपका इन लोगों से कब का परिचय है।"

डाक्टर साहब ने कहा—"मैं अभी आपको बतला दूंगा।"

डाक्टर रामकृष्ण ने त्रिलोकी की दवाई इत्यादि की व्यवस्था नर्स

को बुला कर समझाई और फिर वह डाक्टर साहब को लेकर चल दिये। उसी दिन शाम को मैंने सुना कि रामकृष्ण ने त्रिलोकी के बाबूजी को उनकी इस गल्ती पर बहुत ही शर्मिन्दा किया। बाबूजी ने डाक्टर साहब पर त्रिलोकी को वर्गलाने और जालसाज़ी के साथ उसका ब्याह करने का दोष लगाना चाहा, पर उनकी एक न चली। डाक्टर साहब के आने से यह बात बहुत फैल गई थी और जो भी होता था, वही बाबूजी को इसके लिये बुरा-भला कहता था। यों बाबूजी बड़े ज़बर्दस्त बोलने वाले थे ज़िद्दी भी थे, किसी की जल्दी मानते न थे, पर इसमें साफ उनकी गल्ती थी, इसलिये बेचारे जीत न पाते थे।

डाक्टर साहब तीन-चार दिन रह कर चले गये, अब उनकी छुट्टी ख़त्म हो आई थी और त्रिलोकी की दशा में भी कुछ सुधार मालूम होता था। कुछ ही दिन बाद त्रिलोकी की तबियत ने एकदम पल्टा खाया। उसे खाँसी बहुत बढ़ गई। एक्सरे लिया गया और डाक्टरों ने टी० बी० (तपेदिक़) बता दिया। रामकृष्ण अब उसे अपने अस्पताल में न रख सकते थे। इसलिये मेडिकल कालेज में भर्ती करा दिया गया, जहाँ डाक्टर रामकृष्ण के प्रभाव से उसका बहुत अच्छी तरह इलाज होने लगा।

तपेदिक़ का नाम ऐसा हुआ करता है कि जो भी सुनता है, उसे निराशा ही होती है। त्रिलोकी के जितने सम्बन्धी और मित्र थे, वे सभी निराश हो चुके थे। महीनों मेडिकल कालेज में पड़े रहने पर भी जब कुछ विशेष फायदा न होता दिखलाई दिया तो उसके घर वालों की यह राय पड़ी कि जीवन के अन्तिम दिन वह अपने परिवार वालों के बीच में ही काटता तो अच्छा रहता। डाक्टर लोग भी उसकी ओर से निराश हो ही चुके थे, उन्होंने घर वालों की यह इच्छा पूरी करना ही ठीक समझा।

त्रिलोकी घर ले आया गया। दिन भर देखने वाली स्त्रियों की

भीड़ लगी रहती, शाम को मित्र और जान-पहचान के लोग आते, एक दो सहानुभूति की बातें उससे करते और उसकी दशा पर शोक प्रगट करते हुए चले जाते। इस समय उसका लगभग किसी प्रकार इलाज न हो रहा था। एक दिन एक बुढिया ने एक नुस्ख़ा बतलाया और बड़ी खुशामद से कहा कि इक्कीस दिन यह काढा त्रिलोकी को पिला दिया जाय। लोगों को उसकी इससे ज्यादा बचने की आशा भी न थी, फिर भी वह काढा शुरू कर दिया गया।

सब को ही बड़ा आश्चर्य हुआ, जब त्रिलोकी की दशा में कुछ ही दिनों में उन्नति होती दिखलाई पडी। धीरे-धीरे वह अच्छा हो चला। ऐसा मालूम हुआ, जैसे उसकी दोनों पत्नियों ने सावित्री की भाँति उसे मौत के मुँह से निकाल लिया।

२३

प्रकाश से त्रिलोकी ने मुझे बुला भेजा था, कहलाया था, कुछ आवश्यक सलाह करनी है। मैं उसके घर पहुँचा। किराया न दे सकने के कारण दूसरा घर भी छोड़ना पडा था, अब यह तीसरा था। यह तीसरे मकान मालिक भी अपने इन किराएदारों को न रखना चाहते थे। यों वे इनकी सभ्यता और सुसंस्कृति के क़ायल थे, पर माहवार किराया न पाने के कारण वे स्वय कहाँ तक सभ्य बने रहते। मेरी उनसे काफ़ी जान पहचान थी, एकाध बार इन दोनों के बीच में भी पड़ चुका था, पर मकान मालिक एक न एक खुचेड़ लगाए रहते थे। इधर जब से त्रिलोकी की तबियत ख़राब हुई थी, उन्हें यही बहाना मिल गया था, कहते थे—"हम लोग भी इसी मकान में साथ रह रहे हैं, हमारे स्वास्थ्य के लिये यह घातक सिद्ध हो सकता है।" बाबू जी वग़ैरह ये

सब बातें सुनते और कुछ न बोलते, सिर झुकाए, सब्र और बसर किये जाते थे। इसी शहर में उनके साले के कई मकान किराए पर उठे हुए थे, पर उनके दिल में इतनी जगह न थी कि इन्हे ठहरने को कहीं ज़रा सी जगह मिल जाती। मैं रास्ते में सोचता जा रहा था कि शायद मकान ही के विषय में कुछ हो, पर यह बात न थी।

त्रिलोकी अपने आफ़िस की एक चिट्ठी लिये हुए बैठा था। अभी पूर्णतया स्वस्थ न हो पाया था, मुझे देखते ही वह चिट्ठी मुझे दे दी, उसमें लिखा हुआ था—हम लोग आपको तीन महीने की छुट्टी दे चुके हैं, यदि इस बार आप पहली से आफ़िस न आयेंगे, तो हमें आपको जवाब दे देना पड़ेगा।

चिट्ठी पढ़ कर, परिस्थितियों के आघात के विषय में सोचता हुआ मैं शून्य की ओर ताकने लगा, वह बोला—"क्या कहते हो इस विषय मे?"

मैंने कहा—कोशिश करके देखना चाहिये, शायद छुट्टी बढ जाय।"

"वह नही होने का।"

"क्यों?"

"मैंने प्रयत्न किया था तो मालूम हुआ कि मालिक के प्राइवेट सेक्रेट्री का कोई आदमी है, उसे वह रखवाना चाहता है, इसीलिये यह सब झगड़ा है।"

"तब मुश्किल ही है।"—मुझे भी कहना पड़ा।

"तब क्या हो?"

"तुम वैद्य जी को बुला लाओ, वे देख लें, यदि वे राय दे दें तो मै पहली से दफ़्तर जाने लगूँ। तुम लाओगे, तो वे फीस न लेंगे इसलिये तुम्हें विशेषतः कष्ट दिया।"

सुधरने पर भी त्रिलोकी की जैसी दशा थी, उससे कोई साधारण

व्यक्ति भी उसे राय न दे सकता था कि वह जाकर दफ़्तर में काम करने लगे, फिर वैद्य की तो बात ही क्या । संसार में सबसे प्रबल अग्नि भूख की आग है और शायद उससे थोड़ी ही कम प्रबल है कामाग्नि । इनका सताया हुआ व्यक्ति क्या नहीं कर सकता, और क्या नहीं सोच सकता । त्रिलोकी और उसका परिवार पेट की ज्वाला से व्याकुल थे और इसके सामने त्रिलोकी अपने स्वास्थ्य और जीवन की भी बलि देने में संकोच नहीं कर रहा था ।

मैं वैद्य जी को बुला लाया और त्रिलोकी को देखकर उन्होंने यही राय दी कि उसका अभी दो-तीन माह कोई भी परिश्रम का काम करना घातक सिद्ध हो सकता है । त्रिलोकी ने बहुत कुछ वैद्य जी से बहस की, पर वे न माने ।

जिस समय त्रिलोकी वैद्य से बातचीत कर रहा था, तो ऐसा मालूम होता था जैसे वह उन्हें किसी प्रकार भी भुलावा देकर सिर्फ इतना कहला लेना चाहता है कि तुम काम करो । जिससे कोई उसे यह न कह सके कि उसने पूर्णरूप से स्वास्थ न होने पर भी दफ़्तर जाना शुरू कर दिया । आगे चाहे जो कुछ हो, इसकी उसे चिन्ता न थी । वह किसी भी प्रकार अपने परिवार का पालन करना चाहता था । घर में पड़े-पड़े सब को पेट की ज्वाला में सुलगते देखने से वह उनके लिये प्रयत्न करते हुये मर जाना, जैसे ज्यादा अच्छा समझता था ।

—o—

२४

जिन बाबू जी को परिस्थितियों की इतनी विषमता और जीवन का इतना महान परिवर्तन न जगा सके थे, उन्हें त्रिलोकी की कर्तव्य परायणता ने जगा दिया। यह देखकर कि इतनी बुरी दशा मे होने पर भी त्रिलोकी परिवार के भरण-पोषण के लिये नौकरी करने को व्याकुल है, उनकी कर्तव्य बुद्धि जाग्रत हो उठी। वे एक रोज भाभो से यह कहकर सवेरे घर से निकले—"अब आज घर से जा रहा हूँ, अगर नौकरी मिलेगी, तो घर वापिस आऊँगा वरना न आऊँगा।" भाभो ने उन्हें रोकर रोकना चाहा, इस प्रकार का निश्चय करके घर से न जाने देना चाहा, पर वह न रुके। भाभो दिन भर रोती रहीं, घर के सभी प्राणी दुःखी रहे।

दिन मुँदे चिराग़ जलने पर जब बाबू जी लौटे तो ऐसे प्रसन्न थे, जैसे सारी दुनिया जीत लाए हों। उन्हें ए. आर. पी में २६) रुपये की जगह मिल गई थी। यह वह वक्त था, जब लड़ाई पूरे जोर से चल रही थी। एक पैसे की चीज़ चार और पाँच पैसे की मिलती थी और आज कल के १००) रुपये पाने वाले की तनख्वाह पहले के पचीस रुपयों के बराबर थी। कभी शहरों में मिट्टी के तेल और शक्कर की चिल्लाहट और परेशानी सुनाई पड़ती थी, तो कभी देहातों में लोग नमक लाने के लिये कोसों से धावे करते थे। अनाज की मँहगाई की कोई हद न थी। शहर वाले यदि इस दुःख से दु.खी थे तो देहात वाले इससे कि वे अपना कमाया हुआ पैसा भी अपने पास न रख पा रहे थे। रेज़कारी का मर्ज़ लाइलाज हो गया था। बड़े-बड़े लोग रेज़कारी के वास्ते ट्रेजरी और बैङ्कों के खजाञ्चियों के सामने गिड़गिड़ाते थे। रेजकारी से गाँव में अनाज सस्ता मिलता था और रुपये व नोटों से महँगा। सैकड़ों रुपये के नोट

पास होने पर कभी-कभी लोगों को रेज़कारी की कमी के कारण भूखे रह जाना पड़ता था और बच्चे बिना दूध के बिलखते रह जाते थे। लोग उस दिन के रात में सपने देखा करते थे, जब एक पैसे में फिर रुपया भुनने लगेगा।

ऐसे समय में भी बाबू ब्रजनाथ २६) की नौकरी पाकर प्रसन्न थे। स्वावलम्ब की आभा उनके मुख पर दिखलाई पड़ती थी भाभी और बुआ ने एक पंसारी की दुकान के वास्ते डली काटना प्रारम्भ कर दिया और उन लोगों के इस काम से घर के खर्च में काफी सहारा मिल जाता था। घर का खर्च अब काफी मज़े में चलता था। मोटा खाना और मोटा पहनना। घर में सारे प्राणियों को ऐसा मालूम होता था जैसे गरीबी का मजा आ गया था। वे अब पिछले दिनों की याद न करते थे, जब वे कीमख़ाब पहनते और मलाई बिना कौर न उठाते थे। अब वे रायसाहब से रुपया वापिस पाने के लिए भी व्याकुल न थे, जिसे लेकर वे फिर पहले की तरह ठाट कर सकते।

एक दिन मैंने कहा—"आजकल का क़ानून भी क्या है। जिसका पैसा है, वह तकलीफ उठा रहा है और जिसने मार लिया है, वह मौज कर रहा है।"

"मुझे तो अब कोई तकलीफ नहीं मालूम होती है। जब तक मुझे यह आशा बनी रही कि मुझे वह रुपया मिल जाय, मैं वितृष्णा और इच्छाओं से व्याकुल रहा और मेरे मन को कभी शान्ति न मिली, परन्तु जब से मैं उस ओर से निराश हो गया, मुझे संतोष और शान्ति मिली। अब मुझे यह अनुभव होता है कि उस बिना परिश्रम पाए धन से मैं अच्छे से अच्छा खाते पहनते हुए भी उतना सुखी नहीं था, जितना अपने हाथ पैरों से परिश्रम करता हुआ रूखा-सूखा भोजन करके रहता हूँ। इसका कारण यह है कि उस समय अच्छे से अच्छा पाने पर भी मैं और भी अच्छे की इच्छा किया करता था और मेरी

तृष्णा बढ़ती ही जाती थी। अब मनोवृत्तियों का प्रसरण ठीक इसके विपरीत है। अब कम से कम पाकर भी मैं यह सोचकर सन्तोष करता हूँ कि ससार में ऐसे भी लोग हैं जो मुझसे भी हीनावस्था में हैं। इतना अवश्य है कि मैं उस प्रकार के सन्तोष के पक्ष में नहीं हूँ, जो अकर्मण्यता सिखलाए, मैं जीवन और रहन-सहन की सासारिक व आध्यात्मिक उन्नति का क़ायल हूँ और उसके लिये प्रयत्न करना परम-आवश्यक समझता हूँ। फिर भी मुझे अपने जीवन मे इस बात का अनुभव प्राप्त हो चुका है कि सुख हृदय स्थित सन्तोष पर अवलम्बित है। यदि मनुष्य अपने में शक्ति पैदा करे तो वह सुख-दुख की भावना का परिस्थितियों से सम्बन्ध विच्छेद करा सकता है।

× × ×

बाबू जी कुछ दिनों से सावित्री के विवाह के लिये प्रयत्न कर रहे थे। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि इस बार वे ऊँचे-ऊँचे महल और बड़ी-बड़ी जमींदारियों की ओर आकर्षित न होते थे और न इतने धनी लड़कों के वास्ते प्रयत्नशील थे। कहते थे कि—"मुझ गरीब की लड़की जब बड़े घरों में जायगी तो वह उनके समान दिखावा और आडम्बर न कर सकेगी, उनके एटीकेट का पालन न कर सकेगी, तब वह अपमानित की जायगी और उसके माता-पिता को अनगिन्ती बातें सुनाई जायँगी। मेरी लडकी को वहाँ सच्चा सुख न प्राप्त होगा। इसलिये मैं उसका विवाह अपनी बराबर की स्थिति वाले के यहाँ करूँगा। चन्दो के ब्याह में मुझे धोखा हुआ। मैंने धनी घर देखकर विवाह किया। समय के फेर से वह धन उनके यहाँ न रहा, अब लडके में इतनी योग्यता भी नहीं है कि वह अपने परिवार का भरण-पोषण भी ठीक कर सके।"

बाबू जी जैसा चाहते थे वैसा ही वर सावित्री के लिये मिल गया। अच्छा खाता-पीता परिवार था। सब लोग परिश्रमी और स्वावलम्बी

थे। लड़का सुशिक्षित और गुणी था। स्वभाव भी उसका अच्छा ही सुना गया था। बाबू जी ने इस परिवार के वृद्धि महोदय के सामने अपनी सारी स्थिति खोलकर बतला दी और कह दिया कि मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है, जो मैं दहेज रूप में आपको दे सकूँ। वर के पिता बाबू जी को बहुत पहले से जानते थे और सावित्री उनकी देखी हुई थी। उन्होंने विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

विवाह बिल्कुल आडम्बर-हीन रीति से हुआ। न उसमें दावतों का आयोजन था, न व्यर्थ के ढकोसलों का। उन बाबूजी के विचारों में, जो त्रिलोकी को देवी से विवाह करने की सम्मति न दे सके और जिन्होंने उसका दूसरा विवाह करके अनर्थ ही कर डाला—न ज़ाने कहाँ की क्रान्तिकारिता आ गई थी कि उन्होंने सावित्री का कन्यादान न किया। कहने लगे कि मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह मनुष्य का दान करे। एक मनुष्य अपने को इतना महान और कर्ता समझे और दूसरे को इतना तुच्छ व प्राणहीन वस्तु के समान, कि वह उसे वस्तु के समान दान कर दे। कैसी घोर विडम्बना है, कैसा अहंभाव है, मै यह कभी न कर सकूँगा। बाबू जी ने इस बार अपने किसी सम्बन्धी या रिश्तेदार से किसी प्रकार की सहायता विवाह में न स्वीकार की। जो सौ दो सौ रुपये वे स्वय इकट्ठा कर सके थे, उसी में उन्होंने सारा खर्च निपटा दिया।

विवाह में एक घटना बड़ी विचित्र घटी। चूंकि त्रिलोकी अभी तक पूर्ण स्वस्थ न हो पाया था, मुझी को बहुत कुछ काम सम्हालना पडा था। राजू इस बार भी न आ सके थे, न उनकी श्रीमती जी ही आई थीं। मैं इस परिवार में छुटपन से आता-जाता था, साधारण समय में भी और विवाह काज में भी। न कोई मुझसे पर्दा करता था, न मेरे लिये कोई रोक-टोक थी। बिना इसके सब जगह का काम होना भी कठिन था। मैं इधर से उधर काम में दौड़ा-दौड़ा फिरता था। घर की व

रिश्ते की सारी लड़कियाँ व बहुएँ मुझसे बोलतीं, बातचीत करतीं, काम के लिये कहतीं और मुझे काम में सहायता देती थीं। मैं अपने कर्तव्य का ठीक पालन कर रहा हूँ, त्रिलोकी की जगह की पूर्ति कर रहा हूँ—यह बात मुझे प्रसन्न किए हुए थी। इतने में त्रिलोकी ने मुझे बुलाया, कहा—"तुमसे कुछ अलग बात-चीत करना है।"—मैं उसके साथ अलग गया, तो वह बोला—"देखो, जो कुछ बात मैं कहूँगा वह तुम्हीं तक रहना चाहिये। तुम उसके विषय में किसी से न कहना, यह मेरी तुमसे प्रार्थना है। अभी चन्दो के पति रामेन्द्रनाथ मेरे पास आए और कहने लगे—"जनाब, मुझे आपकी बहन (चन्दो) और आपके मित्र (मैं) के चरित्रों पर सन्देह होता है। यदि ऐसी कुछ बात न होती, तो वे इस प्रकार हँस-हँसकर निर्द्वन्द्व बातें न कर सकते।"—मैं उनकी बात पर मन ही मन बहुत कोपित हुआ। मुझे उतना चन्दो के ऊपर विश्वास नहीं है, जितना तुम पर। दूसरे के लिये यदि कहा जाता तो भी मैं यक़ीन न कर सकता और फिर तुम्हारे लिये। मैं आजकल कमज़ोर हूँ क्रोध से काँपने लगा, पर वे रिश्ते मे बडे हैं, मान्य हैं, यही सोचकर चुप रह गया। कहा—"आपको गलतफहमी हुई है। वह हमारे यहाँ बचपन से ही आते रहे हैं। ये सब लडकियाँ उन्हीं के सामने बढी हैं, और उनसे सदा से ही हँसती-बोलती रही हैं। आपने यह सब देखा है, इसलिये आपको यह सन्देहात्मक मालूम होता है। मेरे मित्र के चरित्र को मुझसे ज्यादा आप जान लेंगे यह भी मैं कैसे स्वीकार कर लू।—उनका दिमाग कुछ ठीक हुआ जरूर, पर पूरी तौर से नहीं। इसलिए मैं तुमसे कहूंगा कि तुम अब चन्दो से बात ही मत करना।

मुझे बहुत क्रोध आया। इच्छा तो यह हुई कि अभी उन बाबू जी को जाकर दो-चार खरी-खरी सुनाऊँ। त्रिलोकी से कहा—"अगर मैं रामेन्द्रनाथ से दो-चार बातें कर लूँ, तो क्या हर्ज है।"

त्रिलोकी ने कहा—"देखो भाई यह बात नहीं, मैं पहले ही तुमसे

मना कर चुका हूँ। फिर इससे कोई फ़ायदा नहीं सिवाय नुकसान के। बातचीत होगी तो तुम कुछ कडी बातें जरूर उन्हें सुनाओगे। उनका बदला वे तुमसे तो निकाल न सकेंगे, गरीब चन्दो से ही निकालेंगे, जैसी भारतीय पतियों की रीति है। फिर विवाह की हँसी-खुशी के वातावरण को एक कडवी बात बेमजा कर देगी। इससे क्या फ़ायदा।"

मैं चुप रह गया। मन में सोचने लगा, विवाह हो जाने पर भारतीय पति देवता पत्नी के ऊपर अपना कितना अधिकार समझते हैं। उनका वह अधिकार स्त्री का अपने शरीर पर जितना अधिकार होता है, उससे कहीं ज्यादा बढा-चढा होता है। विवाह के पहले पत्नी क्या कर चुकी है, (चुन्नीलाल वाली घटना मुझे याद आई) यह न जान कर, अब पति अपनी पत्नी को न किसी की ओर देखने देना चाहता है, न यही बर्दाश्त कर सकता है कि उसकी पत्नी की ही ओर कोई देखे। दूसरे व्यक्ति पर इतना अधिक नियन्त्रण भी क्या अमानुषिक नहीं है। मैं सोचता रहा, जब कि मनुष्य में इतनी सामर्थ्य भी नहीं है कि वह किसी को किसी बात से उसकी इच्छा के विरुद्ध रोक सके। यदि यह सम्भव होता तो ससार का सारा पर्दे के पीछे होने वाला व्यभिचार सुधार वादियों ने अब तक न जाने कहाँ दफन कर दिया होता।

विवाह समाप्त हुआ। सावित्री के बिदा होने के समय आया और वह डोली में बैठाई गई। उन लोगों के यहाँ प्रथा यह थी कि लडकी के भाई नम्रता और भाईपन के स्नेहवश बहन की डोली को कुछ दूर तक पहुँचाते थे। मैं और प्रकाश ही इस काम के लिये चुने गए। मैं डोली लेकर चला, तो स्नेह-भावना के उद्रेक से मेरे नेत्रों से आँसू निकलने लगे।

—:०:—

२५

वैद्य जी ने कई महीने तक त्रिलोकी को बिस्तरे पर से उठने न दिया। वह अक्सर पुस्तकें पढा करता—जिस विषय पर भी मिल जातीं। मेरे पास कहानी-सग्रह और उपन्यास बहुत थे, उन्हें उसे दे देता तो वही पढ डालता। उसके एक पड़ोसी कम्यूनिस्ट उसे कभी-कभी साम्यवाद मार्किसज्म और एकानामिकल थ्योरी आफ मार्क्स,वगैरह दे दिये थे, उन्हे भी वह पडा पड़ा घोटा करता था। कभी-कभी घटों इन पुस्तकों को पढकर वह सोचा भी करता। वैद्य जी की राय ऐसी गम्भीर पुस्तकों को पढने की न पडती थी जिसने चिन्तन करने की वृत्ति ही पर त्रिलोकी न माना। वह कम्यूनिज्म का अध्ययन बराबर करता रहा। हम लोगों ने भी जब उसके स्वास्थ्य पर अध्ययन का कोई बुरा प्रभाव पडते न देखा तो उसे न रोका। धीरे धीरे उसे कम्यूनिज्म का मैनिया (सनक) सा हो गया। अपने उन पुस्तक देने वाले कम्यूनिष्ट से तो अक्सर उसका इसी पर वाद-विवाद होता ही रहता और भी जो कोई आता-जाता उससे भी बात करते समय घूम फिर कर वह इसी विषय पर आ जाता और कम्यूनिज्म की वैज्ञानिकता का बखान करने लगता। धीरे-धीरे खटिया पर पड़ा पडा ही त्रिलोकी कम्यूनिस्ट कह कर हँसा जाने लगा। हँसा क्यों जाने लगा? हँसा इस कारण जाने लगा कि भारतवर्ष मे कम्यूनिस्ट होना उतना ही हास्यास्पद है, जितना काना होना। कारण यह है कि लोग कम्यूनिज्म के विषय में सिर्फ इतना ही जानते हैं कि वह कोई बहुत बुरी चीज है, इससे अधिक कुछ नहीं। उन्हें ठीक-ठीक इसकी अच्छाई और बुराई का ज्ञान कराने वाले सस्ते साहित्य का देशी भाषाओं में अभाव और इसे समझा सकने वाले व्यक्तियों की बहुत कमी है।

साम्यवादी अभी खाट पर से ठीक-ठीक उठ भी न पाया था कि

घर में यथार्थवाद का नृत्य काफी ज़ोरों में होने लगा। बाबू जी ए० आर० पी० से यह कह कर बर्खास्त कर दिये गए कि आपकी उम्र ज्यादा है। हमे नौ जवान आदमी की आवश्यकता है। उनके घर के लोग इस आर्थिक कमी से कुछ थोड़ा दुखी तो अवश्य ही हुये पर विचलित नहीं। भाभो वग़ैरह के उद्योग से (जो पसारी की दुकान के लिये डली काटना, पिसा कुटा मसाला तैयार करके होता था) घर का ख़र्च जैसे तैसे चल जाता था। बाबू जी की भी अब खाली बैठने की आदत न रह गई थी, इसलिये वे कुछ न कुछ काम घर से बाहर जाकर पा ही जाया करते थे। एक प्रेस में जाकर वे अक्सर प्रूफरीडिंग कर लेते और रुपया बारह आना लेकर ही घर आते। इन कामों से होने वाली आमदनी के स्थायित्व पर विश्वास न किया जा सकता था, इसलिये त्रिलोकी घर से काम ढूढने के लिये निकल पड़ा।

समय ऐसा लगा हुआ था कि कहीं नौकरी मिलना असम्भव ही सा था, वह भी त्रिलोकी के लिये, जिसके पास हाई स्कूल का सार्टीफिकेट भी न था। कई दिन निराश होकर लौट लौट कर आना त्रिलोकी को अच्छा न लगा, जब कि घर का प्रत्येक प्राणी किसी न किसी प्रकार जीविकोपार्जन के लिये उद्योग कर रहा था। एक दिन उसने हजरतगज के रिकरूटिग आफिस (फौज की भरती के दफ्तर) में जाकर अर्जी दे दी। पहले तो उसने यह बात किसी को न बताई पर जब उसकी अर्जी मजूर हो गई और आगामी पहली तारीख को पेशावर पहुँच कर चार्ज लेने का हुक्म उसके पास आ गया, तो उसे सबसे कहना पड़ा।

घर में इस बात का पता चलना था कि कोहराम मच गया। बाबू जी से लेकर भाभो, बुआ और त्रिलोकी की पत्नी सभी व्याकुल थे। खत्री लोग अक्सर कहा करते हैं कि हम क्षत्रिय हैं, पर उस समय क्षत्रिय और क्षत्राणीपन सब भूल चुका था। पर अब हो क्या सकता था— तीर हाथ से निकल चुका था। बाबू जी जानते थे कि बान्ड भर देने पर

किसी प्रकार उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है, भा
वालों की कैसी दुर्गति की जाती है. यह भी उनसे छिपा न था, इस
मन मारकर रह गये। त्रिलोकी ने देवी को पत्र लिख दिया था, उ
ऐसा हृदय द्रावक पत्र आया पढकर आँसू रुकते ही न थे। उस प
आने के साथ ही डाक्टर साहब भी दरभगा से आए और इस त्र
के कैन्सिल कराने की कोशिस की, पर सब व्यर्थ। उधर त्रिलोकी
चेहरे पर शिकम तक न थी।

अट्ठाइस तारीख को हम लोग सब उसे स्टेशन भेजने गए।
मित्र साथ में थे। एक सज्जन ने एक हार खरीदकर उसके गले मे
दिया, और वह उन्हें धन्यवाद देकर उसे गले में ही डाले रहा।
हम सब उसके बिछोह होने की बात को सोच कर दुःखी ही थे, पर
महोदय को इस वक्त भी कुछ सूझी। उन्होंने कहा—मैंने बहुत सो
पर यह निश्चय न कर पाया कि तुम इस युद्ध में आखिरकार किसी प्र
का भी सहयोग देने क्यों जा रहे हो? क्या तुम अपने इस कार्य
किसी सिद्धान्त वश कर रहे हो, या जैसा हमारे प्राइम मिनिस्टर मि
चर्चिल ने कहा था कि—'हमारी सहायता भारतवासियों की गरीबी
की है न कि उनकी सहानुभूति ने इस विवशता के ही कारण
रहे हो?"

सवाल बड़ा भद्दा और असभ्यता से भरा हुआ था पर, चूंकि प्र
कर्ता भी ऐसे मित्रों में था जिनसे बिल्कुल बेतकल्लुफी थी। त्रिलोकी
बुरा न माना। वह बोला—"नहीं, मैं किसी प्रकार विवश होकर न
जा रहा हूँ, बल्कि सिद्धान्तवश ही जा रहा हूँ और यदि तुम्हारे
मस्तिष्क हो, तो उसे तुम्हें भी समझाने का दावा रखता हूँ।"

"तो फिर कृपा कीजिये"—उस मित्र ने कहा—"क्योंकि मस्ति
मेरे है, इसका मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।"

त्रिलोकी ने कहना शुरू किया—"यह युद्ध साम्राज्यवादी

हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकरके

उपन्यास और कहानियाँ

	मू०
शान्ति-कुटीर (अविनाशचन्द्र)	१=)
आँखकी किरकिरी (रवीन्द्रनाथ टैगोर)	१॥)
अन्नपूर्णाका मन्दिर (निरुपमा देवी)	॥।=)
विधाताका विधान ,, ,,	२॥)
छत्रसाल (रामचन्द्र वर्मा)	१॥।)
घृणामयी (इलाचन्द्र जोशी)	१।)
गोदान (प्रेम)	४)
सुखदास ,,	॥=)
परख (जैनेन्द्रकुमार)	१)
त्यागपत्र ,,	१।)
काला फूल (अलेकजेंडर डयूमा)	१॥।)
शरत्-साहित्य प्र० भा० (सुमति, पथनिर्देश, काशीनाथ, अनुपमाका प्रेम)	॥=)
शरत-साहित्य द्वि० भा० (स्वामी, वैकुण्ठका दानपत्र, अन्धकारमें आलोक)	॥=)
शरत्-साहित्य तृ० भा० (चन्द्रनाथ, तसवीर, दर्पचूर्ण)	॥=)
शरत्-साहित्य च० भाग (श्रीकान्त प्रथम पर्व)	॥=)
शरत्-साहित्य पाँचवाँ भाग (बाम्हनकी बेटी, प्रकाश और छाया, बिलासी, एकादशी बैरागी, बाल्यस्मृति)	॥=)

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई ४